एकांकी-कला

(एकांकी की शिल्प-विधि और हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ एकांकियों का संग्रह)

डा० रामकुमार वर्मा एम० ए० पी० एच० डी०
प्रयाग विश्वविद्यालय
तथा
डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए० पी० एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९५२ [मूल्य २॥)

मुद्रक—
मुन्शी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस प्रयाग

एकांकी-कला

दो शब्द

एकांकी कला के संबंध में साधारणतः जो विधान अपेक्षित है उसके संबंध में यह प्रथम विचार-किरण है। भविष्य में एकांकी के प्रत्येक अंग पर विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा।

एकांकी के विधान का स्पष्टीकरण के लिए पुस्तक के उत्तरार्ध में श्रेष्ठ एकांकियों का संकलन भी है जिससे लेखक और पाठक दोनों ही एकांकी की रूप रेखा स्पष्ट रीति से हृदयंगम कर सकें।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी एक शक्तिशाली माध्यम है। हमें आशा है, इस पुस्तक से एकांकी लेखन में प्रगति आ सकेगी और हिन्दी के नवीन एकांकी लेखकों का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

समर्पण

हिन्दी के मंच-निर्माण में
अग्रसर लेखकों और
अभिनय-कर्त्ताओं को

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ

संग्रह खंड

एकांकीकार की प्रेरणा

प्रेरणा कलाकार की शक्ति है। बिना प्रेरणा पाये कलाकार का हृदय रचना की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। संसार के सभी कार्य करने के लिए मनुष्य को प्रेरणा मिलती है। बिना प्रेरणा कोई भी कार्य कठिन और दुस्साध्य है। भावुक और कवि-हृदयों के लिए प्रेरणा नितांत आवश्यक है। सागर की उत्ताल तरंगें, पूर्णिमा का चन्द्र, पद्मानन आदि से ही प्रेरणा पाकर कवि लेखनी उठा लेते हैं। वीरों को भी प्रेरणा की आवश्यकता होती है। भूषण के काव्य ने वीर शिवाजी को युद्ध के लिए कई बार प्रेरित किया होगा। प्रेरणा कला की आत्मा है। संसार के सभी प्राणियों की भाँति एकांकी लेखक को भी प्रेरणा की आवश्यकता पड़ती है। वह इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं ठहराया जा सकता। एकांकीकार के लिए भी प्रेरणा बल है, शक्ति है जिसकी डोर पकड़ कर वह साहित्य के क्षेत्र में कूद पड़ता है।

तो, एकांकीकार की प्रेरणाओं को एक एक कर गिनाया नहीं जा सकता है। दूकानदार के आय-व्यय के समान उसकी

प्रेरणाओं का कोई लेखा या सूची नहीं प्रस्तुत की जा सकती। पर इतना तो निश्चय है कि इतने विशाल विश्व, इतने अनन्त ब्रह्मांड में अगणित ऐसे पदार्थ हैं, मानव है, जीव हैं जिनसे वह प्रेरणा ले सकता है। पर उसे इतना अवकाश कहाँ या कहिए इतनी सूक्ष्म दृष्टि कहाँ ! सामान्यतया हिन्दी के एकांकीकारों को समाज के बाह्याडम्बरों और कुव्यवस्थाओं, प्रतिशोध की भावना, आदर्श चरित्र, यथार्थ परिस्थितियाँ, प्रेम-जनित अन्तर्द्वन्द्व एवं बाह्यद्वन्द्व, कर्तव्य की महत्ता, संघर्ष, वैचित्र्य तथा ऐतिहासिक समस्याएँ आदि बहुत समय से प्रेरित करती रही हैं। उक्त इन सभी विषयों में से आदर्श और प्रेम तो जैसे हिन्दी के एकांकीकारों को शान्ति से बैठने ही नहीं देते। इन्हीं से प्रेरित होकर हिन्दी में कितने ही नाटकों की रचना हुई और हो रही है।

डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, गणेश प्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, उपेद्रनाथ 'अश्क', भगवती चरण वर्मा, धर्म प्रकाश, आनंद तथा प्रेम नारायण टंडन आदि एकांकी लेखकों की रचनाओं की प्रेरणा अधिकांश 'प्रेम' है।

—:०:—

एकांकी की कथा-वस्तु

हिन्दी एकांकी के जनक डा० रामकुमार वर्मा ने कथा-वस्तु के संबंध में लिखा है :—

"जीवन की परिस्थितियों के ज्ञान के लिए नाटककार को अपनी यात्रा में अनेक वर्षों के संबल की आवश्यकता है। नाटककार जीवन का अभिन्न सखा है। वर्षों के साहचर्य से उसे जीवन की प्रत्येक मुस्कान और प्रत्येक उच्छ्वास की गहराई का ज्ञान है। प्रेम और घृणा में हृदय के स्पन्दन की गति से उस के कान परिचित हैं। वह जीवन की बहुत सी 'धूसर भुजंग सी' पगडंडियों पर चल चुका है, उसे शायद ठोकरें भी लगी हैं। मेरी कल्पना में नाटककार मंच पर खड़ा है। विनोद में अपनी मुट्ठी बाँध कर पूछता है—क्या है इस में ? कोई कहता है, पैसा। कोई कहता है, खाली। आप कह दीजिए—दो आँसू, एक हँसी, आधा चुम्बन। नाटककार लज्जित हो कर कहेगा—ठीक है।

साहित्य का अध्ययन करने की अपेक्षा हमें जीवन का अध्ययन करने की आवश्यकता है। उसी में हमें मौलिकता के दर्शन होंगे। साहित्य के ग्रन्थ तो लेखकों के व्यक्तिगत दृष्टि-कोणों से ही बने हुए हैं। हमारे सामने दस पुस्तकों के दस

दृष्टिकोण यदि उपस्थित ही कर दिए गए तो हमें जीवन का कितना भाग प्राप्त होगा ? हम भी उन्हीं दस दृष्टिकोणों से चोर की तरह कुछ चुराकर ग्यारहवाँ प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे। तब हम अपने जीवन का प्रथम ज्ञान क्यों न अर्जित करें ? पुरुष और स्त्री के मनोविज्ञान में पैठ कर वास्तविक मनुष्यत्व की रूपरेखा का निर्माण क्यों न करें ?

बहुत से प्रश्न हैं जिनसे जीवन के मूल रूप को अध्ययन करने की सामग्री मिलती है। हमारे इस अध्ययन में वास्तविक वस्तुस्थिति का स्पन्दन होगा और उस में हम मानव की आवाज सुन सकेंगे। नाटककार को परिस्थिति की उतनी कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है ? हमारे जीवन के चारों ओर घटनाओं का अविराम प्रवाह बहता रहता है जिनमें प्राणों के तत्वों का अत्यन्त रहस्यमय संकेत रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि इन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देख कर उन की व्यंजना में कथा-वस्तु का निर्माण कर लिया जावे। यह कथा-वस्तु हमारे अत्यन्त निकट होगी। कला-चातुर्य केवल इस बात में है कि घटनाओं को अधिक से अधिक घनीभूत कर उन्हें कार्य-कारण की मनोरंजक शृंखला में कस दिया जावे। नाम-परिवर्तन के अतिरिक्त नाटककार को और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। कार्य-कारण की संबद्धता वस्तुतः प्रतिभा की आवश्यकता रखती है और जिसमें अधिक प्रतिभा होगी वह नाटककार अत्यन्त कौतूहलपूर्ण कथा-वस्तु को भी अत्यन्त

स्वाभाविक बना देगा । इस प्रकार प्रतिभा से पूर्ण नाटककार को अपने जीवन के अनुभवों से बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

नाटक का प्राण उसके संघर्ष में पोषित होता है । यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन-शक्ति में होगा उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा । अतः नाटककार ऐसी स्थितियों की खोज में रहता है जिसमें उसे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ मिलती हैं । नाटक लिखने के पूर्व उसके हृदय में ही एक विप्लव होता है । वह उस विप्लव को अपनी अनुभूति की फूँक से और भी उत्तेजित करता है । फिर उसे एक ज्वालामुखी का रूप देकर अपने नाटक में रख देता है । उससे व्यक्ति और समाज की कितनी ही भाव-परंपराएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं और फिर उस नष्ट हुए भाव-समूह से एक नवीन पथ के निर्माण की ओर नाटककार का संकेत होता है । कितने ही अन्ध-विश्वासों के भीतर से विश्वास की स्वास्थ्य-प्रद आशाएं विकसित होती हैं । जीवन के अन्तराल में छिपी हुई न जाने कितनी सुप्त प्रवृत्तियाँ जीवन में पहली बार जाग्रत होती हैं ।

ये प्रवृत्तियाँ मनोविज्ञान को गुदगुदाने से ही जागती हैं और इसके लिए अनुवीक्षण की आवश्यकता है । इस अनुवीक्षण में घटनाओं के साथ साथ पात्रों की रूप-रेखा भी स्पष्ट हो जाती है । यही कारण है कि इस सूक्ष्म दृष्टि से देखे हुए पात्रों के परिचय में संकेत-लिपि अधिक विस्तारमय हो जाती है । रमेश

में व्यक्तित्व का मोह है इसलिए वह अपने माथे के दाग़ को छिपाने के लिए चन्दन लगाये हुए है। लीला की लिपस्टिक चुरा कर किशोर अपने चित्रों में रंग भर रहा है क्योंकि उसे अपनी स्त्री का लिपस्टिक लगाना पसन्द नहीं है। इस प्रकार के संकेत-चित्रण से रंगमंच के संचालक को चाहे पात्र के चुनाव और वेश-भूषा के निर्धारित करने में सहायत्ता मिल जाय किन्तु इससे अधिक पात्रों के मनोविज्ञान को स्पष्ट करने की भावना है। स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान में आन्दोलन उपस्थित करने वाले प्रश्न नाटककार की लेखनी में अपना उत्तर पा सकते हैं। समाज और परिवार के संघर्षों को रंगमच पर उपस्थित कर नाटककार जनता को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित करा सकता है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम जीवन का चित्रण किस प्रकार करें? क्या हम जीवन की नग्न परिस्थितियों को कला से सुसज्जित कर उपस्थित करें या जीवन के मौलिक एवं विकृत रूप को यथातथ्य घटनाओं से छीन कर रंगमंच पर रख दें? रूस के लेखकों ने तो अधिकतर यही किया है कि जीवन को अपने नग्न स्वाभाविक रूप में जैसे का तैसा रख दिया है। मैक्सिम गोर्की ने अपने उपन्यास और नाटकों में जीवन को ही साहित्य और कला मान लिया है। समाज के निम्न स्तरों से जीवन लेकर उसने अपने साहित्य का निर्माण किया है। नाटकों में कथा-वस्तु नहीं के बराबर है किन्तु चरित्र अत्यन्त आवेगमय और शक्तिशाली है। घटनाओं में कोई नाटकीय कौशल नहीं

है, जीवन की स्वाभाविकता अपनी तीव्र गति से स्पष्ट होती चली गई है। 'दि चिल्ड्रैन आव दि सन्' में नायक की आत्महत्या और नायिका का पागलपन विवाह की वास्तविक समस्याओं पर गतिशील आलोक फेंकता है। जीवन की दुःख-पूर्ण और वास्तविक घटनाओं का क्रम एक निरन्तर प्रवाह की भाँति होता है। यही बात चेखाव के साथ है किन्तु उसने नाटकीय कौशल में व्यंजना को प्रधान स्थान दिया है। पात्रों का कार्य-विन्यास जीवन के अनुरूप ही है। आना, जाना, हाव-भाव प्रदर्शित करना कपड़े पहनना आदि अत्यन्त वास्तविक ढंग से किया गया है। ऐसा करना यद्यपि नीरस हो गया है तथापि उसमें मनोविज्ञान की सूक्ष्म प्रवृत्ति दर्पण के बिम्ब की भाँति झलक उठी है। नाटकीय कला की उसने इतनी चिन्ता नहीं की जितनी स्वाभाविक मनोविज्ञान के स्पष्ट करने की, किन्तु उसमें कला उपेक्षित भी नहीं है। 'दि सी गल' और 'थ्री सिस्टर्स' में जीवन की गतिशीलता अत्यन्त क्रम-बद्ध रूप से उपस्थित की गई है। टाल्सटाय ने भी स्वाभाविक चित्रण का मार्ग ग्रहण किया किन्तु वह अन्त में उपदेशक और आदर्श के समीप तक पहुँचने के प्रयत्न में लग गया। 'दि लाइट दैट शाइन्स इन दि डार्कनैस' में यदि वह धार्मिक जीवन की कठिनाइयों को स्पष्ट करता है तो 'दि पावर आव् डार्कनैस' में किसान के जीवन का क्रन्दन समाज तक खींच लाता है। टालसटाय ने वास्तविकता को आदर्शवाद से संबद्ध कर दिया है। जीवन के यथार्थ चित्रण में हम रूस के कलाकारों

से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। आज हम अपने नाटकों में इसी बात की माँग करने लगे हैं कि हमें अपनी कठिनाइयों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का अवसर मिले। इसलिये हमारे अधिकांश आधुनिक नाटककार नाटक के अभिनयात्मक सौन्दर्य और वस्तु-विन्यास के कलापूर्ण मार्ग से हटते से जा रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि हम साहित्य के क्षेत्र में रूस के आदर्शों का ही अन्धानुकरण करते चले जा रहे हैं। साम्यवाद के जो विचार उठ रहे हैं उन्होंने ही हमारे साहित्य में 'प्रगतिशील' रचनाओं को प्रोत्साहित किया है। हमारे नवीन लेखकों ने 'प्रगतिशीलता' के नाम पर जो अपनी उच्छृखंलता पृष्ठों पर रख दी वह हमारे जीवन की नैसर्गिक गतिशीलता से बहुत दूर जा पड़ी है।

मानवी हृदय की अभिव्यक्तियाँ उनके सिद्धान्तवाद के बोझ से दब गई हैं। उनके साहित्य के 'चरित्र' मनुष्य के नैसर्गिक हाव-भाव के प्रतीक न होकर सिद्धान्तों के सीधे-टेढ़े प्रतीक बन कर रह गये हैं। मनुष्य को भूल कर हम 'वर्ग' के पीछे पड़ गये हैं। हम वास्तविक वस्तुस्थिति से आँख बन्द नहीं करना चाहते किन्तु हम उसके प्रदर्शन में साहित्यिक सुरुचि तो सुरक्षित रख ही सकते हैं जिस का प्रगतिशील साहित्य में विनाश होने जा रहा है। हमारा अति आधुनिक हिन्दी साहित्य जिस उच्छृखंलता के साथ जा रहा है, उसमें मुझे भय है, कोई भी उत्तरदायित्त्व की भावना नहीं जान पड़ती। वह सौंदर्य के

नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है किन्तु पुनर्निर्माण के लिये कोई कार्य निर्धारित नहीं करता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन की वास्तविकता हमारे नाटक की आधार-शिला होनी चाहिये पर जिस वास्तविकता में कोई आकर्षण नहीं है, वह हमें रुचिकर नहीं हो सकती। हमारे जीवन में सहस्रों घटनायें घटित होती रहती हैं किन्तु उन में से कितनी हमें याद रहती हैं और जब हमें रंगमंच के थोड़े से समय में जीवन का चित्रण करना होता है तब हमें जीवन की ऐसी घटनाएँ तो चाहिये ही जो हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर सकें या हमारी रागात्मक प्रवृत्ति में कुछ चेतना ला सकें। यदि साधारण घटनाओं की आवृत्ति ही रंगमंच पर हो तो हमारा जीवन ही क्या कम वास्तविकता का केन्द्र है कि हम उसे भूल कर रंगमंच की शरण लें। परिस्थिति यह है कि हमारे जीवन की वास्तविकता को घनीभूत करने में हमें कला का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है और यहीं 'यथार्थ' में आकर्षण उत्पन्न होता है। रूप और रंग का सन्निवेश हमारे अनुभव की घटनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा कर रंगमंच पर मनोरंजन का साधन बनता है। आपको अपने वार्तालाप में भी अनुभव होगा कि जब आप किसी घटना को यथावत् कहते हैं तब उसमें लोगों को विशेष दिलचस्पी नहीं होती लेकिन जब आप उसी में अपनी ओर से 'नमक,-मिर्च' लगा देते हैं तो वही हँसने हँसाने की सामग्री बन जाती है। घटना की अन्य साधारण बातों को हम छोड़ देते

हैं और अपनी रुचि की बात को तीव्रतर करते हुए उसे हँसाने के बिन्दु तक खींच लाते हैं और तब वह बात एक स्मरणीय घटना बन जाती है। जीवन की घटनाएँ अपने अविराम प्रवाह में बहती रहती हैं। उनमें न तो कोई सजावट होती है और न कोई निश्चित एकरूपता। जहाँ घटना तीव्रतर हो सकती है, वहाँ उसमें शैथिल्य मिलता है, जगह जगह गति में अवरोध भी होता है, कहीं उसमें अनावश्यक बातों से दिशा-परिवर्तन भी हो जाता है। संक्षेप में उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं होती। कलाकार छूटी हुई बातों को अपनी प्रतिभा से जोड़ कर घटनाओं को एक सुनिश्चित रूप दे देता है। दबी हुई बातों को उभारता है और अनावश्यक बातों को काट-छाँट कर एक सुनिश्चित गति और दिशा आँखों के सामने स्पष्ट करता है। जंगल में अनेक सुन्दर फूल खिले होते हैं जिनकी ओर हमारी दृष्टि भी नहीं जाती। यदि जाती भी है तो हम उनकी ओर आकर्षित नहीं होते। लेकिन जब उन्हीं फूलों का संकलन माला के रूप में होता है तब हम प्रत्येक फूल के सौंदर्य पर मुग्ध होते हैं और माला के निर्माण में प्रत्येक फूल के रंग और क्रम की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार कलाविद् नाटककार जीवन से ही घटनाएँ चुनता है लेकिन उनका क्रम और पारस्परिक सहयोग हमारे हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है और हम जीवन के रहस्यों से कुछ ही देर में परिचय प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये जैसा मैंने ऊपर कहा है नाटककार को

जीवन से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता केवल कलात्मक रूप से घटनाओं को उपस्थित करने की है, चिरन्तन अस्तित्व की पीठिका पर जीवन के कौतूहल को व्यंजनात्मक भाषा में उपस्थित करने की है। हमारे प्रगतिशील लेखक जीवन के प्रस्तुत करने की शैली में कला का ध्यान नहीं रखते, सौंदर्य और सुरुचि की उपेक्षा करते हैं, यही मेरा उनसे मतभेद है। मैं यहाँ तक तो मानने के लिये तैयार हूँ कि चरित्र के विश्लेषण या स्थिति के विस्तार में मनोविज्ञान को प्रधान स्थान मिल जाय और कला को गौण, किन्तु कला का निर्वासन, सुरुचि और रंग-रूप का बहिष्कार मेरे दृष्टिकोण से साहित्य की पवित्रता और उसका आकर्षण नष्ट कर देगा। इब्सन जो नाट्य जगत का प्रमुख नेता था, सदैव कला को यथार्थ की अनुचरी बनाता था जैसे किसी वीर पुरुष के पीछे एक सजी हुई नव वधू चली जा रही है।

प्रगतिवादी एक प्रतिहिंसा लेकर साहित्य का निर्माण करना चाहते हैं। साहित्य की रचना यदि प्रतिहिंसा लेकर हुई तो वह सर्वकालीन सत्य और सौन्दर्य से बहुत दूर होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। उन्हें गन्दी नाली अच्छी लगती है, वे हमेशा भूखे किसान और पसीने की दुर्गन्धि में डूबे मजदूर को ही साहित्य के सिर पर चढ़ाकर साहित्य का शृंगार चाहते हैं। भूखे किसान और मजदूर के चित्र किसी स्थल पर अच्छे हो सकते हैं पर उन का एकमात्र आधिपत्य हमारे साहित्य के बौद्धिक विकास में

सहायक नहीं हो सकता। गन्दी बातों को अधिक से अधिक प्रश्रय देना यथार्थवाद के लिए आवश्यक हो गया है। हमारा प्रगतिशील लेखक अश्लीलता के किनारे बैठकर साहित्य के नाम पर अपनी वासनाओं का नृत्य देखना चाहता है।

परियों के देश की कल्पनाओं से हटकर वास्तविकता का क्षेत्र नाटक के लिए मैं आवश्यक समझता हूँ। यहाँ तक तो यथार्थवाद अभिनन्दनीय है लेकिन इससे आगे साहित्य के पथ-भ्रष्ट होने की संभावना है। केवल अश्लील और कुरुचिपूर्ण क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से साहित्य अपना वह स्वभाव खो देता है जो उसे सर्वव्यापी और सर्व हितकारी बनाता है। साहित्य में स्थितियों का एक चुनाव होता है। जिससे वह भावनाओं के केन्द्र में संचित होकर हृदय में प्रवेश पाता है। हमारा प्रगतिशील लेखक दुःख, निराशा, करुणा, क्रान्ति और अश्लीलता की घटनाओं पर घटनाएँ जोड़ता है और चरित्रों को सिद्धान्तवाद की गाँठों में कसता चलता है। वह अपने दैन्य में दैत्य की हँसी हँसना चाहता है और चाहता है कि सारी दुनियाँ उसकी ओर आँख फाड़ कर देखे और उसका पक्ष समर्थन करे।

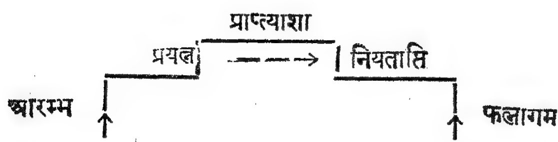
मैं कलात्मकता के पक्ष में वहीं तक हूँ जहाँ तक कि वह जीवन की वस्तु-स्थितियों को कुरुचिपूर्ण और नीरस होने से बचाती है। सुन्दर सुन्दर वाक्यों और अलंकारमय वार्तालाप यदि नाटक में प्रगति उत्पन्न नहीं करते तो वे व्यर्थ हैं। केवल मनोरंजन या हास्य के लिए पात्रों का देर तक वार्तालाप में उलझे

रहना युक्ति-संगत नहीं है। आस्कर वाइल्ड के 'वुमेन आव् नो इम्पारटेन्स' में जो मनोरम वाक्यों की बेलें सजाई गई हैं उन से हम सन्तुष्ट नहीं होते। क्योंकि उनमें से अधिकांश न तो कथानक की प्रगति में सहायक हैं और न चरित्र चित्रण में। हमें वार्तालाप से घटनाओं के गूढ़ से गूढ़ आरोह और अवरोहों का ज्ञान हो जाना चाहिए। शब्दों में ध्वनि और व्यंजना हो और हमारे हावों में सुख या दुःख का संपूर्ण मनोविज्ञान। जार्ज बर्नार्ड शा इस क्षेत्र में अत्यन्त चतुर हैं। उनके संवाद अत्यन्त सरलता से पात्रों को याद हो जाते हैं क्योंकि पात्रों के हृदय में ही सम्वाद के स्वर स्वाभाविक रूप से जन्म पा जाते हैं। आइरिश नाटककार जे० एम० सिंज के सम्वाद भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी और काव्य-छटा से ओतप्रोत हैं।

आधुनिक जीवन को देखते हुए हमारे नाटकों को चरित्र-प्रधान होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा मनोभावों के विकासानुसार स्पष्ट होनी चाहिए। हमें वर्ग और समूह के पर्याय व्यक्तियों पर अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि उन्हींके मनोविज्ञान के सहारे हम जीवन के गूढ़ रहस्यों से परिचित हो सकते हैं। वर्ग के चित्रण में सिद्धान्त की प्रमुखता पहले आती है और हमारे सामने जीवन का एक विशेष सम्भवतः मलीन और उदास दृष्टिकोण आ जाता है। जीवन के प्रति असंतोष हमें पहले से ही होने लगता है फिर हम स्वस्थ जीवन का रूप ही किस प्रकार निरूपित कर सकते हैं? शा ने जनता

की रुचि की सदैव उपेक्षा की । उसने वास्तविक अप्रभावित जीवन को आधार मान कर समाज के दुराचरण की खूब निन्दा की । उसने प्रत्येक स्त्री को बतला दिया कि वह क्या है । उसने प्रत्येक पुरुष को बतला दिया कि उसका उत्तरदायित्व कितना और कैसा है । अतः स्वस्थ जीवन से लिए गये मनोभावों के अभाव में अच्छी से अच्छी कथा स्वप्न के रंगीन और क्षणिक जाल से श्रेष्ठ नहीं हो सकती । हमारे प्राचीन भारतीय साहित्य में नीति और उपदेश की प्रधानता रही है । हितोपदेश और पंचतन्त्र की कथाओं में जीवन का उतना महत्त्व नहीं है जितना सिद्धान्त का । भारतीय नाट्य शास्त्र में भी नायक के द्वारा सद्गुणों को प्रश्रय देने की भावना है । लेकिन यह सब इसलिये है कि हमारा साहित्य धर्म से अनुप्राणित है और धर्म में आचार शास्त्र के विधि-निषेध की भावना का रहना आवश्यक है । संस्कृत नाटकों ने जहाँ कथा को आकर्षक रूप दिया है वहाँ उन्होंने चरित्र की मीमांसा भी अच्छी की है यद्यपि यह चरित्र की मीमांसा आदर्शवाद को ही लेकर हुई । कथानक भी परंपराओं से पोषित होने के कारण पश्चिमीय नाट्य कथावस्तु से भिन्न सा है । उसमें चरमसीमा : (क्लाइमैक्स) के लिये कोई स्थान नहीं है । यद्यपि कौतूहल और जिज्ञासा की सब से बड़ी शक्ति उसमें निवास करती है । जब हमारे सामने 'फलागम' का स्वर्ण-प्रदेश है जिसमें नायक अपने 'अधिकारों' को हस्तगत कर सफलता के सिंहासन पर बैठता है तब उसे अन्तिम वाक्य के लिए

'भरतवाक्य' का ही वरदान मिलता है। समस्त नाटक में नायक की विजय एक निश्चित धारणा है। उस पर चाहे जितने संकट आवें किन्तु अन्त में अपनी शक्ति से या दैव की प्रेरणा से वह प्रतिनायक को पराजित अवश्य करेगा। नाटक सभी परिस्थितियों में सुखान्त होगा क्योंकि दक्ष, प्रियंवद और धार्मिक नायक का पराजय समाज में अनीति और अन्याय का मार्ग प्रशस्त करेगा। अतः समाज की व्यवस्था के लिये सत्य की विजय को दिखलाना अभीष्ट है। जब नायक की विजय का सिद्धान्त लेकर नाटक चलता है तब चरम सीमा : क्लाइमैक्स : के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है जिसमें एक एक भावना नायक को मृत्यु या पराजय के मुख में ढकेल सकती है। 'ए फाल्स स्टैप एन्ड ए ट्रैजडी' अर्थात् 'एक गलत कार्य किया और दुखान्त' की भावना तो भारतीय नाट्यशास्त्र में है ही नहीं। वहाँ आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम में प्रतिनायक नायक को दुखी मात्र कर सकता है। इससे आगे बढ़ने की क्षमता उस में है ही नहीं। अतः भावना के आरोह और अवरोह के दृष्टिकोण से प्राचीन नाटकों के वस्तु विन्यास का रेखा-चित्र कुछ इस प्रकार होगा :—



पश्चिम के नाट्य शास्त्र के अनुसार सुखान्त और दुःखान्त दोनों की परिणति घटनाओं की दिशा में हो सकती है। उसमें अन्तर्द्वन्द और घटनाओं का घात-प्रतिघात प्रमुख है।

साधारणतः नाटक की कथा-वस्तु यही रूप धारण करती है। किन्तु एकांकी नाटक में साधारण नाटक से बहुत भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उस के प्रारम्भिक कार्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक क्षिप्रगति से आगे बढ़ता है और एक एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घंटे के संघर्ष में और वर्षों की घटनाएँ एक मुस्कान या एक आँसू में उभर आती हैं, वे चाहे सुखान्त रूप में हों चाहे दुखान्त रूप में। इस घनीभूत घटनावरोह में चरम सीमा विद्युत की भाँति गतिशील होकर आलोक उत्पन्न करती है और नाटककार समस्त वेग से बादल की भाँति गर्जन करता हुआ नीचे आता है।

प्रवेश कुतूहलता की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यंजना उत्सुकता से लम्बी हो जाती है। फिर घटना में गति की घनीभूत तरंगें आती हैं जो कुतूहलता से खिंचकर चरम

सीमा में परिणत होती है। चरम सीमा के बाद ही एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है। चरम सीमा के बाद घटना विस्तार वैसा ही अरुचिकर है जैसे प्रेयसी से बातें करने के बाद आटे-दाल का हिसाब करना।

मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है जैसे एक तितली फूल पर बैठकर उड़ जाय। उसकी घटना-वस्तु से जीवन मनोरंजन के साथ निखरे हुए रूप में आ जाय। नाटक के समझने में न तो प्रयास की ही आवश्यकता हो और न थकावट ही। संक्षेप में, जीवन का एक पृष्ठ उलट जाय और उसको उलटाते हुए आपके मुख पर सन्तोष और सुख हो। दुर्भाग्य की बात है कि हमारी जनता की रुचि साहित्य की ओर अभी आकर्षित नहीं हुई। हमें अपनी रचनाओं से जनता को साहित्यिक बनाना है और उसकी रुचि का परिष्कार करना है। यह तभी सम्भव होगा जब हमारे नाटककार, निर्माता और विचारक होंगे, जब वे जीवन को ऊँचे धरातल पर ले जाकर अधिष्ठित करेंगे।"

(वि० ना० दी०)

—:०:—

हिन्दी में एकांकी

पात्र

एकांकी लेखक पात्रों को नाटक की कथा-वस्तु के माध्यम से दर्शकों के समक्ष उपस्थित करता है। लेखक के विचारों को भी पात्र ही जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। एकांकी नाटकों में पात्र बहुत कम होते हैं। उनकी संख्या चार या पाँच से अधिक नहीं होती जिसका संबंध नाटक की घटना से संपूर्णतया होता है। केवल मनोरंजनार्थ पात्रों की संख्या में वृद्धि अनपेक्षित ही नहीं वरन् कला की दृष्टि से नाटक के लिए हानिकारक भी है। नाटक के प्रत्येक पात्र की रूप-रेखा पत्थर पर अंकित रेखा की भाँति सुस्पष्ट एवं गहरी होती है। एकांकी में नायक तो होता ही है किन्तु बड़े नाटकों की भाँति इसमें भी प्रतिनायक का विधान हो सकता है। प्रतिनायक का विधान अथवा सर्जन बहुत कुछ कथा-वस्तु पर ही निर्भर होता है। यदि कथा-वस्तु में बाह्य जगत का संघर्ष अधिक है, अथवा प्रेम आदि भावों का चित्रण है, तो प्रतिनायक की कल्पना की जाती है। परन्तु हिन्दी में ऐसे भी एकांकी है जिनमें बाह्य संघर्ष और प्रेम-पूर्ण कथानक होते हुए भी प्रतिनायक की रचना नहीं की गई। 'रूप की बीमारी' और 'लक्ष्मी का स्वागत' इसी कोटि की रचनाएँ हैं फिर भी

उनमें प्रतिनायक की कल्पना नहीं की गई । जिन नाटकों में प्रतिनायक के लिए कोई स्थान नहीं होता उनमें विविध गौण पात्रों के समावेश से और घटनाओं के आधार से कथा-वस्तु में गति पैदा की जाती है। इस प्रकार पात्रों की दृष्टि से हिन्दी-एकांकियों के भेद किए जा सकते हैं :—

१—वे नाटक जिनमें नायक और प्रतिनायक दोनों होते हैं।

२—वे नाटक जिनमें नायक और गौण पात्रों के आधार पर कथा अग्रसर होती है।

३—वे नाटक जिनमें नायक, प्रतिनायक के साथ गौण पात्रों का भी विधान होता है।

नायक कथा के क्रम को आगे बढ़ाता है और प्रतिनायक कथा-सूत्र की विकसित अवस्था का अवरोध करता है। गौण पात्र नाटक में, सामान्य तथा निम्नलिखित चार प्रकार के कार्य करते हुए कथा के विकास में सहयोग प्रदान करते हैं :—

१—उत्तेजक।
२—माध्यम।
३—सूचक।
४—प्रभाव-व्यञ्जक।

(१) वे गौण पात्र जो कथा के विकास को उत्तेजित करते हैं उत्तेजक कहलाते हैं। 'रूपकी बीमारी' में डाक्टर उत्तेजक पात्र है।

(२) जो गौण पात्र मुख्य पात्र या नायक के मनोगत भावों को प्रकट करे या कराये वह माध्यम है। माध्यम का मुख्य कार्य है मुख्य पात्र के 'स्वगत' को रोकना। माध्यम सामान्य रूप से

नायक का कोई मित्र या आत्मीय व्यक्ति ही माना जाता है उदाहरणार्थ 'अधिकार लिप्सा' में प्रयागसिंह जो अयोध्यासिंह के मनोभावों को प्रकट करता रहता है।

(३) नाटक की कथा-वस्तु के रहस्यों को स्पष्ट करने वाले या अप्रत्यक्ष विषय को स्पष्ट कर देने वाले पात्र सूचक हैं। 'सुहागबिन्दी' में डाक्टर सूचक है।

(४) वे पात्र जो कहीं रहस्यमय संकेत, इंगित अथवा भूमिका की भाँति कथा-वस्तु में यत्र-तत्र उपस्थित होते हैं वे प्रभाव-व्यंजक पात्र हैं। उदाहरणार्थ 'स्ट्राइक' में 'नवयुवक'।

पात्रों की रचना में नाटककार को सामान्य रूप से चार बातों पर ध्यान रखना अपेक्षित है :—

(१) पात्र इसी संसार के हों। उनमें पारलौकिक तत्व न हों अथवा वे कल्पना लोक में विचरने वाले कवि न हों। नाटक में ऐसे पात्रों को भी नहीं लाना चाहिए जो आत्माओं के प्रतीक हों। भूतों और प्रेतों को स्टेज पर दिखाना असम्भव है। क्षण-मात्र में स्टेज पर खड़े खड़े उनका विलीन हो जाना भी असम्भव है। अतः नाटककार को ऐसे पात्रों को मंच पर नहीं लाना चाहिए।

(२) पात्रों में जनता को आकर्षित करने की क्षमता हो।

(३) पात्रों की रचना मनोवैज्ञानिक आधार पर हो।

(४) नाटक में पात्रों की भर्ती न हो। नाटक में चार-पाँच पात्रों से अधिक की आवश्यकता नहीं है।

एकांकी में संवाद अथवा कथोपकथन

कथोपकथन अथवा संवाद एकांकी नाटकों का सब से आवश्यक तत्व है। बिना कथोपकथन के एकांकी के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कथोपकथन वह साधन है जिसके द्वारा नाटकीय पात्र स्वविचार, स्वानुभूति तथा स्वभावों को व्यक्त करता हुआ उनसे जनता वा दर्शकों का परिचय कराता है। कथोपकथन का, इसी कारण एकांकी अतीव अनिवार्य तत्व कहा गया है। सुन्दर और आकर्षक कथोपकथन एकांकी के समस्त अभावों को दूर कर देता है। पाठक या दर्शक उनके चमत्कार से पात्र के भावों के साथ साधारणीकरण स्थापित कर लेता है। असंगत न होगा यदि कहा जाय कि कथोपकथन ही एकांकी की आत्मा है, प्राण है।

कथोपकथन आकर्षक होना चाहिए। प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में और कभी कभी पुस्तकाकार प्रकाशित एकांकियों में यह बात देखी जाती है कि एकांकी में संवाद वा कथोपकथन हैं तो सही परन्तु वे निर्जीव से हैं। उनमें पाठकों या दर्शकों को न तो प्रभावित करने की शक्ति है, न आकर्षित करने की सामर्थ्य। पाँच-पाँच मिनट की अवधि तक एकांकी के कथोपकथन में कोई विशेषता नहीं

होती। पात्र परस्पर 'रस्म अदायगी' या कर्तव्य-पूर्ति सी करते प्रतीत होते हैं। पात्रों के कथोपकथन में न उल्लास है, न सजीवता। प्रायः कथोपकथन पात्रों की स्थिति के अनुकूल भी नहीं ठहरते। कुछ एकांकी नाटकों में कथोपकथन अत्यन्त घरेलू तथा असाहित्यिक प्रतीत होते हैं। उनमें साधारण व्यक्तियों के वार्तालाप का सा चमत्कार भी नहीं होता। एकांकीकारों को इन सभी दोषों से दूर रहने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि जब कथोपकथन ही एकांकी की आत्मा है, प्राण है, तो उसमें शक्ति होनी चाहिये और आकर्षण भी साथ ही साथ अपेक्षित है। यह एकांकी के सूत्र को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। पाश्चात्य विद्वान् श्री वाल्टर रिचार्ड एटन के मतानुसार एकांकीकार को अपनी कथा-वस्तु के अनुकूल ही कथोपकथन का निर्माण करना चाहिए। कथोपकथन में एक भी शब्द अनावश्यक न हो, एक भी वाक्य अधिक न हो और पात्र को केवल वही कुछ कहना चाहिए जिसके कहे बिना कथा का न तो विकास ही हो पाता है और न पात्र के भावों का सम्यक् परिचय ही उपलब्ध होता है। पात्रों को अपनी भाषा में अत्यन्त स्वाभाविक रीति से बोलना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दर कथोपकथन के हेतु सबसे आवश्यक बात यह है कि वह अत्यन्त (2) स्वाभाविक हो, अस्वाभाविक कथोपकथन सभ्य और शिक्षित जनता के लिए निःसार

है। उसका कोई महत्त्व नहीं होगा साथ ही उसमें साहित्यिकता का भी एकांत अभाव होगा।

(१) एकांकी में कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त हों। उसमें अनावश्यक वाक्यों और शब्दावली की भरमार न हो। एकांकी नाटक का प्रदर्शन केवल कतिपय मिनटों तक ही सीमित है। इस सीमित अवधि में यदि पात्र व्यर्थ की बातें करते रहेंगे तो न तो दर्शक उससे प्रभावित होंगे और न नाटककार के लक्ष्य की ही पूर्ति होगी। संक्षिप्त कथोपकथन की दृष्टि से डा० राम कुमार वर्मा का 'आँखों का आकाश' पठनीय है।

(२) कथोपकथन मर्मस्पर्शी वाग्वैदग्ध्यपूर्ण होना चाहिये। वाग्वैदग्ध्य यों भी वार्तालाप का गुण माना जाता है पर नाटक में इसकी और भी अपेक्षा रहती है। वाग्वैदग्ध्य से कथोपकथन में सजीवता का संचार हो जाता है। पाठक और दर्शक, दोनों ही के लिए ऐसे कथोपकथन विशेष आकर्षक प्रतीत होते हैं। 'चारुमित्रा' एकांकी में डा० वर्मा ने चारुमित्रा एवं तिष्यरक्षिता के कथोपकथन में वाग्वैदग्ध्य का समावेश किया है।

(३) कथोपकथन में चरित्र की चारित्रिकता को अभिव्यक्त अथवा प्रकट करने की पूर्ण शक्ति होनी चाहिए।

(४) कथोपकथन एकांकी के कथा-सूत्र को विकसित करने में सहायक हो।

(५) कथोपकथन निम्न कोटि के वादविवाद का रूप न ग्रहण कर ले इस बात का ध्यान भी रखना चाहिये। यदि वादविवाद

दिखाना ही है तो वह कलात्मक रीति से होना चाहिये और कथोपकथन इसमें सहायक होगा। भगवती चरण वर्मा का "सब से बड़ा आदमी" वादविवाद का सुन्दर एकांकी है जिसमें कथोपकथन की रचना कलात्मक रीति से हुई है। 'पृथ्वीराज की आँखें' में भी ग़ोरी और महाराज पृथ्वीराज का कथोपकथन विचार एवं आवेशपूर्ण है फिर भी वह सजीव, आकर्षक और चमत्कारपूर्ण है।

(६) कथोपकथन में पात्र उपदेश का स्वाँग न भरने लगे। छोटे एकांकी नाटकों में व्याख्यान, उपदेश और लम्बी वाक्यावली के लिये कोई स्थान नहीं है।

(७) 'स्वगत' आज की जनता के लिये असत्य, अनावश्यक और अवाञ्छनीय है। एकांकीकार को 'स्वगत' अपने नाटक में बिलकुल ही नहीं रखना चाहिये।

(८) कथोपकथन सरल और स्पष्ट होना चाहिये। रहस्यपूर्ण कथोपकथन प्रायः रसानुभूति में बाधक हो जाता है। भुवनेश्वर के नाटकों में यह दुरूहता प्रायः मिलती है।

(९) कथोपकथन पात्रों के भावों को प्रकट करने की क्षमता रखता हो।

—:o:—

रंग-संकेत वा नाटकीय संकेत

प्राचीन काल में भारतीय नाट्यकला विश्व के किसी भी देश की नाट्यकला की तुलना में अत्यन्त उच्च थी। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के साथ ही भारतीय साहित्य और कलाओं में अनेकानेक नवीनताओं का समावेश हुआ। प्राचीन काल में हमारे यहाँ के नाटक भी मंच पर अभिनीत होते थे परन्तु उनमें व्यापक निर्देशों अथवा रंग-संकेतों का अभाव था। नाटकीय संकेत होते अवश्य थे परन्तु वे अत्यन्त संक्षिप्त, केवल कुछ ही शब्दों तक सीमित रहते थे। इन संकेतों या निर्देशों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता था और न आलोचक या समीक्षक इनके प्रति जागरूक ही रहते थे। इसी कारण संभवतः नाट्यकला की विवेचना करते समय नाटककार इनकी ओर से विमुख रहते थे। हिन्दी साहित्य में कई पीढ़ी के नाटककारों ने नाट्य साहित्य में एक विशेषता का समावेश किया और वह है व्यापक नाटकीय संकेत अथवा रंग-संकेत। दूसरा कारण अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव कहा जा सकता है। इस दिशा में हिन्दी के नाटककार बंगला के नाटककारों से भी कुछ कुछ प्रभावित हैं। भारतेन्दु बाबू

हरिश्चन्द्र को रंगमंच का सम्यक् ज्ञान था। उन्होंने नाट्य-शास्त्र को ध्यान में रखकर ही अपने नाटकों की रचना भी की। परन्तु फिर भी उनमें व्यापक रंग-संकेत नहीं हैं। सम्भवतः वे संस्कृत नाट्य-शास्त्र से अधिक प्रभावित थे। संकेतों को रखने के जो भी प्रयत्न उनके नाटकों में दृष्टिगत होते हैं वे बंगला साहित्य के प्रभाव हैं। कारण कि उन्हें बंगला का अच्छा ज्ञान था और उससे प्रभावित होना उनके लिए स्वाभाविक भी था। हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में भारतेंदु जी के पश्चात् श्री जयशंकर 'प्रसाद' द्वितीय महान् प्रतिभावान व्यक्ति हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक-साहित्य में एक नया युगारम्भ किया। उनकी प्रतिभा के आलोक से हिन्दी नाट्य-साहित्य का क्षेत्र पुनः आलोकित हो उठा। प्रसाद जी को संस्कृत नाट्य-शास्त्र का ज्ञान था। वे भारतीयता के उत्कृष्ट उपासक थे। उनके नाटकों में भारतीयता पुरातन संस्कृति, तथा अतीत गौरव के चित्रों के साथ ही साथ नाट्य-कला के आवश्यक तत्व भी उपलब्ध होते हैं। भारतेन्दु-युगीन नाटक-परम्परा का उन्होंने बहुत अंश में निर्वाह करने का प्रयत्न किया। पर उनके नाटकीय संकेत अथवा रंग-संकेत भारतेन्दुजी के संकेतों से अधिक व्यापक और उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्रसादजी के पश्चात् हिन्दी में आने वाले नाटक-रचयिताओं ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। उनके बाद हिन्दी-नाटकों में लम्बे लम्बे और व्यापक संकेतों की रचना प्रारम्भ हुई। रंग-संकेतों की ओर ध्यान देने वालों में श्री लक्ष्मी नारायण

मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, श्री भुवनेश्वर और सेठ गोविन्ददास हैं। इनके अनुकरणकर्ता तो बाद में बहुत संख्यक दिखाई देते हैं। इस नवीन शैली का हिन्दी नाट्य-साहित्य में समावेश करने वाले उपर्युक्त व्यक्ति सभी विद्वान् हैं। उन पर अंग्रेजी नाटकों की इस शैली का प्रभाव पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। उनके एकांकियों में गाल्सवर्दी, इब्सन तथा बर्नार्ड शा के व्यापक रंग-संकेत मिलते हैं।

अंग्रेजी नाट्य-साहित्य में नाटकीय संकेतों के विकास और उत्पत्ति का कारण बताते हुए श्री अमर नाथ गुप्त ने लिखा है कि पाश्चात्य साहित्य में इसका अधिकाधिक अंश में उपयोग कई कारणों से हुआ। उनके प्रयोग ने (यह सर्व सम्मत है), नाटक को सर्वप्रिय बना दिया है। आधुनिक नाटककार को दो प्रकार की प्रेक्षकों का सामना करना पड़ता है। एक तो वे जो मनोरंजनार्थ थियेटर में जाते हैं और दूसरे वे जो उपन्यास और कविता के प्रेमी हैं, अभिनय, रंगमंच और नाटक से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। १६ वीं और २० वीं शताब्दियों में उपन्यास-कार ने पाठक के हृदय में जगह कर ली हैं। इस सर्वप्रियता के कारण नाटक की ओर लोगों का ध्यान कम हो गया है। उसी की पूर्ति के लिए और जनता की उपन्यास-साहित्य से अभिरुचि दूसरी ओर मोड़ने के ही लिए नाटककारों ने इसका प्रयोग किया। अपने उद्देश्य में वे बहुत-कुछ सफल हुए भी क्योंकि उन्हीं लम्बे-लम्बे और व्यापक संकेतों द्वारा नाटक में

भी उन्हें औपन्यासिक इतिवृत्तात्मक शैली का मजा सा आ जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक नाटककार इसका प्रयोग करते हैं इसके प्रचलन की साध को पूरा करने के लिए। श्री अमरनाथ गुप्त के प्रस्तुत कथन से तीन बातें प्रकट होती हैं (१) उपन्यास, कविता तथा आख्यायिका-प्रिय जनता के लिए नाटकीय संकेतों की आवश्यकता पड़ी। (२) लम्बे नाटकीय संकेतों को पढ़कर नाटक से अरुचि रखने वाले साहित्यकार व्यक्ति भी उसे इसलिए पढ़ने लगे कि उसमें उपन्यास की सी रोचकता का सृजन हो जाता है। (३) वर्तमान एकांकीकार इसका प्रयोग इस लिए करने लगे कि उन्हें आधुनिकता की साध पूरी करनी थी। दूसरे शब्दों में वे समय के फ़ैशन के साथ चलना आवश्यक समझते थे। हमारा श्री गुप्त के उन कथनों से नितांत भेद है। हम इन बातों को मानने के लिये उद्यत नहीं हैं कि लम्बे संकेतों को पढ़कर उपन्यास-प्रेमी रोचकता के धोखे में आ जाते हैं या इसका प्रयोग साध मिटाने के लिए ही हुआ है। वस्तुतः तथ्य नितान्त भिन्न है। नाटकीय संकेतों की रचना का एक निश्चित लक्ष्य होता है जो सभी एकांकीकारों के लिये अनिवार्य है।

नाटकीय संकेतों का जन्म और विकास हुआ अभिनेताओं और दिग्दर्शकों की सरलता के हेतु। ये मंच पर नाटककार के उद्देश्य को भली-भाँति हृदयंगम करने में सहायक होते हैं। नाटकीय संकेतों द्वारा दिग्दर्शकों को ज्ञात हो जाता है कि कहाँ पर किस सामान की आवश्यकता है, किस स्थान पर कमरे के

सामान की स्थिति कथा-वस्तु और पात्रों के प्रतिकूल रहेगी, किस स्थान पर पात्रों की वेश-भूषा, हाव-भाव, कैसे रहेंगे। वास्तव में रंग-संकेतों के समावेश से दिग्दर्शकों का काम प्रायः समाप्त सा हो गया है और पात्रों का कार्य प्रायः आधा रह गया है।

इस भाँति नाटकीय संकेतों की रचना के अनेक लक्ष्य होते हैं। सर्व प्रथम इनकी रचना रंग-भूमि की व्यवस्था के लिये होती है। लेखक रंग-भूमि के विषय में पाठकों अथवा दर्शकों को इन्हीं नाटकीय संकेतों के अन्तर्गत पूर्ण विचार (Idea) दे देते हैं। उसे ज्ञात हो जाता है कि जिस कमरे का दृश्य दिखाया जायगा उसका दरवाज़ा किस ओर है, उसमें कितनी कुर्सियाँ हैं, कितनी मेजें हैं, किस प्रकार के चित्र हैं। रात्रि है अथवा दिन। खिड़कियों पर पर्दे पड़े हैं या नहीं, आदि। इस वर्णन से दो लाभ होते हैं। (१) रंग भूमि के विषय में स्पष्ट और सुलझा हुआ रूप ध्यान में आ जाता है और (२) यह ज्ञात हो जाता है कि कमरे में रहने वाला व्यक्ति किस श्रेणी का है और उसकी अभिरुचि कितनी परिमार्जित अथवा रूढ़ि-प्रधान है। रंगमंच के भवन अथवा कमरों के वर्णन में भुवनेश्वर सिद्धहस्त हैं। उदाहरणार्थ : [सीन—एक मध्यवर्ग बंगले के खाने का कमरा, जो बरामदें में एक तरफ परदे डाल कर बना लिया गया है। एक बड़ा सा साइड टेबिल जिस पर चीनी के बर्तन, प्लेट, प्याले नुमायशी ढंग से रखे हैं। पास एक छोटी मेज पर फोर्स, क्वेकर ओट्स, पालसन बटर और अचार के दो अमृतदान सजे

हैं। खाने की मेज अंडाकार जिसके चारों तरफ चार कुर्सियाँ पड़ी हैं। दो पर एक स्त्री और एक पुरुष बैठे हैं। पुरुष सुपुरुष, स्त्री कुछ बोले तो पता चले। कम से कम दस मिनट से खामोश। तीसरे पहर की चाय पी रहे हैं] प्रस्तुत वर्णन से उच्च वर्गीय जीवन की एक झलक मिल जाती है। वर्णन स्पष्ट, सजीव और विशद है कुछ एकांकीकार अपने विचार को अधिक स्पष्ट करने के हेतु समय का मानचित्र भी दे देते हैं। उदाहरणार्थ डा० राम कुमार वर्मा ने 'परीक्षा' एकांकी का मानचित्र भी दे दिया है। उसमें उन्होंने कुर्सी, काउच, आलमारी, चार्ट, टेबल सभी की स्थिति दिखायी है। इतना ही नहीं नाटककार ने कई एक दरवाजों का भी उल्लेख कर दिया है। नीचे स्थान और समय दिया गया है। कमरे की स्थिति का वर्णन अश्क ने अपने "अधिकार का रक्षक" एकांकी में भी अच्छा किया है। देखिए :—

(समय—आठ बजे सुबह)

स्थान—घनश्यामदास के मकान का ड्राइंग रूम। सामने बांई ओर दीवार के साथ बड़ी मेज़ लगी हुई है जिस पर एक रैक में क़रीने से पुस्तकें चुनी है, दायें बायें कोने में दो ट्रे रखी हैं, जिनमें एक में आवश्यक कागज़ पत्र आदि और दूसरी में समाचार पत्र रखे हैं। बीच में शीशे का एक डेढ़ वर्ग गज़ का चौकोर टुकड़ा रख दिया है जिसके नीचे ज़रूरी काग़ज़ रखे हैं। शीशे के टुकड़े और किताबों के रैक के मध्य में एक सुन्दर क़लमदान रखा हुआ है।

मेज़ के इस ओर गद्देदार कुर्सी है जिसके पास ही दाईं ओर एक ऊँचा स्टूल जिसपर टेलीफोन का चोंगा रखा हुआ है। स्टूल के दाईं ओर एक तख्त-पोश है जिसपर सफाई से बिस्तर बिछा हुआ है। कुर्सी और तख्त पोश के बीच में स्टूल इस तरह रखा हुआ है कि उस पर पड़ा हुआ टेलीफोन का चोंगा दोनों जगहों से सुगमता के साथ उठाया जा सकता है। बाईं दीवार में दो खिड़कियाँ है। दाईं ओर दीवार में एक दरवाजा है जो घर के बरामदे में खुलता है।]

(२) नाटकीय संकेतों की रचना का दूसरा लक्ष्य होता है अभिनय की सहायता करना। नाटककार बीच बीच में पात्रों के हाव-भाव, वेश-भूषा, उठने, बैठने, चलने की रीति, उनकी भाव-भंगी आदि का उल्लेख कर देते हैं। उदाहरणार्थ लापरवाही से, घबड़ाकर, एकाएक उठकर, दौड़ कर, उदास मुद्रा में आदि के उल्लेख से ज्ञात हो जाता है कि पात्र किस मुद्रा में है, उसकी मानसिक स्थिति और दशा क्या है। पात्र इन्हीं संकेतों के अनुसार अभिनय कर सकते हैं। कहीं कहीं एकांकीकार एकांकी के अनुरूप पात्रों के अभिनय की जो कल्पना करता है उसका भी उल्लेख बड़ी स्पष्ट रीति से कर देता है। कभी कभी इन नाटकीय संकेतों का उल्लेख करना नाटककार के लिये अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टि से भुवनेश्वर एवं डा० राम कुमार वर्मा के नाटकीय संकेत विशेष अच्छे हैं। उनसे नाटक-कारों की मनोवैज्ञानिकता और मानवीय भावों को परखने का ज्ञान

भी प्रकट होता है। भुवनेश्वर के 'रोमाँस' से एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है :—

[वह व्यस्त सा उठना चाहता है और कांच का गिलास झनझना कर फर्श पर चकनाचूर हो जाता है। कमरे का वातावरण सिहर उठता है। भीतर से स्त्री विस्मय, भय और कातरता का एक विचित्र सम्मिश्रण लेकर आती है और किंचित मुस्करा कर अपने मैले आँचल से काँच बटोरना प्रारम्भ करती है।]

प्रस्तुत उद्धरण से पात्रों के हृदय के भाव प्रकट हो जाते हैं। शीशे की झंझनाहट के साथ ही पात्रों की हृदयस्थ स्थिति झंकृत हो उठती है और विस्मय, भय तथा कातरता के साथ प्रवेश कर मैले आँचल से काँच बटोरती हुई स्त्री का चित्र एवं उसकी वेबसी का कितना सुन्दर रूप भुवनेश्वर जी ने समुपस्थित किया है। हिन्दी एकांकी साहित्य में भुवनेश्वर के जैसे सुन्दर नाटकीय संकेत अन्य किसी लेखक ने भी लिखे हैं यह सन्देह का विषय है। प्रभाव व्यंजना के लिए लिखित भुवनेश्वर का एक नाटकीय संकेत 'स्ट्राइक' एकांकी से देखिये :—

[बाहर बरामदे से दो या तीन मरतबा आवाज़ आती है 'चौकीदार' ! फिर मोटरों के स्टार्ट होने की और खामोशी। स्टेज पर अँधेरा हो जाता है पर बीच में दो या तीन मरतबें रोशनी होती है और किसानों का बुझा सा चेहरा लिये चौकीदार मेज़ झाड़ता है और जले हुए सिगरेट बीनता हुआ दिखाई देता है"

(३) नाटकीय संकेतों की रचना पात्रों की रूप-कल्पना में भी सहायता पहुँचाने के लिये होती है। उदाहरणार्थ डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी 'रजनी की रात' से एक उद्धरण नीचे दिया जाता है :—

[आनन्द किशोर का प्रवेश। २४ वर्ष का नवयुवक, सुन्दर और सुडौल। मर्सराइज्ड सिल्क का निकर और नीली सर्ज का गरम कोट पहने हुये हैं। सिर पर एक स्कार्फ़। हाथ में ग्लव्स और पैरों में पेशावरी स्लीपर। चलने में निश्चयात्मकता। बोलने में मधुर और दृढ़। शिष्टाचार के नियमों में सधा हुआ। व्यवहार में सुरुचि और उत्साह। आत्म-विश्वास में पूर्ण और प्रसन्न तथा हँसमुख। बोलने में तत्पर और स्पष्ट। उसके हाथ में बंदूक और कंधे से कमर तक लटकती हुई कार्ट्रेजेज का बैल्ट।]

(४) नाटकीय संकेतों की रचना का चतुर्थ उद्देश्य है कथा-वस्तु के दुरूह एवं विस्तृत स्थलों को स्पष्ट एवं संक्षिप्त रूप में चित्रित करना। जिन दृश्यों या घटनाओं के वर्णन में अधिक स्थान और लम्बे लम्बे कथोपकथनों की अनिवार्यता हो जाती है उन्हीं को नाटककार नाटकीय संकेतों के रूप में उपस्थित करके उनकी प्रेक्षणीयता बढ़ा देते हैं। जिन बहुत सी बातों का उल्लेख नाटक में एकांकीकार नहीं करना चाहता है उन्हें भी इन्हीं नाटकीय संकेतों के अन्तर्गत रख देता है। इससे एकांकी में प्रवाह और सजीवता का संचार होता है।

(५) संकेतों की रचना का पाँचवाँ लक्ष्य है कथा-वस्तु के उन

तत्वों का चित्रण करना जिनकी अभिव्यक्ति न तो कथोपकथन द्वारा हो सकती है और न किसी अन्य नाटकीय प्रयत्न से ही हो सकती है। श्री जैनेन्द्र के 'टकराहट' से एक उसी प्रकार का उदाहरण—[हाथ में एक झाड़ू है, बाल फैले हैं, चेहरे पर धूल है। झाड़ू एक ओर रख देती है और शीशा देखती है। देखकर आइना दूर कर देती है। पास एक ओर बाल्टी से पानी लेकर मुँह धोती है। धोकर फिर आइना देखती है। बाल ठीक करती है और फिर कपड़े बदलना प्रारंभ करती है।] यहाँ पर नाटककार ने लीला के हृदय का क्षोभ, ग्लानि और परिवर्तन का जो सजीव और स्पष्ट चित्र इस नाटकीय संकेत के द्वारा प्रस्तुत किया है वह न तो पात्रों के कथोपकथन से सम्भव है और न अभिनय से। लीला के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण में भी लेखक सफल हुआ है।

(६) नाटक के पात्रों के भावों की प्रेषणीयता एवं अर्थ ग्राह्य बनाने के हेतु भी इन नाटकीय संकेतों की रचना होती है।

हिन्दी एकांकी नाटकों में इन संकेतों का प्रयोग दो प्रकार से हुआ है। प्रथम नाटककार इनकी रचना कथोपकथन से नितांत पृथक् करता है। इस प्रकार के संकेत कथा-वस्तु के विकास में सहायक अप्रकट स्थिति को प्रकट करने तथा पात्रों के भावों को व्यक्त करने के लिए होता है। भुवनेश्वर के एकांकियों में इनका व्यापक प्रयोग हुआ है। उनके 'असर' एकांकी से एक उद्धरण नीचे दिया जाता है :—

[भीतर कुछ आवाजें सुनाई देती हैं। गृहस्वामी सहसा ट्यूटर की तरफ कड़ाई से देखता है । ट्यूटर उस नज़र को बचाकर चुपचाप बाहर चला जाता है। भीतर के दरवाज़े से एक मोटी अधेड़ रमणी भारी बनारसी साड़ी पहने, एक ज़रा दुबली रमणी महीन सफ़ेद बेल लगी सफेद धोती पहने। दो युवतियाँ। दोनों नीली साड़ियाँ पहने। एक युवक अचकन चूड़ीदार पाजामें में आता है। चेहरे से वे सभी थके हुए, मालूम देते हैं पर वे सब बराबर हँस रहे हैं जैसे जवान लड़कियाँ आपस में हँसती हैं जब वे एक दूसरे का कोई साहस-पूर्ण भेद जानती हैं]

दूसरे वे संकेत हैं जिनका प्रयोग कथोपकथन के साथ होता है। उदाहरणार्थ :— "देखो यह लाल बिन्दी की शीशी कितनी हिफ़ाजत से रखी हुई थी [शीशी को बड़ी श्रद्धा से निकाल कर देखता है । वह बिलकुल ख़ाली है फिर मानों आप ही आप कहता है [इतनी हिफ़ाजत से रखने पर भी न जाने कैसे यह गिर पड़ी] [फिर उसी सन्दूक में से एक चिट्ठी लिखने का काग़ज़ निकालता है जिसके ऊपर वाले पन्ने पर एक अधूरी चिट्ठी लिखी हुई है । वह भी बिंदी के लाल रंग से लथपथ हो रही है। पूरी इबारत पढ़ी नहीं जाती । वह आप ही आप विक्षिप्त प्रलाप के तौर पर बड़े प्रेम से आँखें फाड़ फाड़ कर पढ़ने लगता है......इसके आगे पढ़ा नहीं जाता है [काली बाबू एकाएक सन्न होकर लेटर पेपर को हाथ में लिए सन्दूक बन्द कर देते हैं और मूर्छित से पलँग पर पड़ जाते हैं] इस

प्रकार के नाटकीय संकेत हमें अश्क के एकांकी 'अधिकार का रक्षक' में बहुत मिलते हैं। घनश्यामदास के लम्बे लम्बे टेलीफ़ोन-वार्तालाप को संक्षिप्त करने और उन्हें रोचक बनाने के लिए नाटककार ने इनका प्रयोग किया है।

टेकनीक की आवश्यकता सर्वदा एकांकी रचना के समय पड़ती ही रहती है। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय डा० रामकुमार वर्मा, श्री सद्गुरु शरण अवस्थी तथा सेठ गोविन्द दास जी हैं। अब हम यहाँ एकएक विद्वान् की सम्मति का परीक्षण करेंगे।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (climax) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक एक क्षण प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से संपूर्ण तथा संबद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरञ्जन के लिये अनावश्यक पात्र की गुंजायश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप-रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के हाथ पैरों के समान है, जिसमें अनुपात विशेष से रचना होकर सौंदर्य की सृष्टि होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार एकांकी की रचना साधारण नाटक की रचना से कठिन है। उसमें विस्तार के लिये

अवकाश नहीं है। पूर्वरंग—पृथ्वी राज की आँखें) संस्कृत नाटकों में ......चरम सीमा के लिये कोई स्थान नहीं है यद्यपि कौतूहल और जिज्ञासा की सबसे बड़ी शक्ति उनमें निवास करती है।... जब नायक की विजय का सिद्धान्त लेकर नाटक चलता है तब चरम सीमा (climax) के लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है जिसमें एक एक भावना नायक को मृत्यु या पराजय के मुख में ढकेल सकती है।......पश्चिम के नाट्य शास्त्रों के अनुसार उसमें अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं का घात प्रतिघात प्रमुख है। उसके विषय में परिस्थितियों की अवतारणा प्रमुख स्थान रखती है।... दो भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ अपने सम्पूर्ण सत्य के साथ लड़ती हैं और यह संघर्ष पद पद पर व्यंजना के साथ आशा और निराशा की ओर झुकता है। इसलिये नाटक की सीमा अपने समस्त वेग से एक विन्दु में सधी रहती है। साधारणतः नाटक की कथावस्तु यही रूप धारण करती है किन्तु एकांकी नाटक में साधारण नाटक से भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप हमारे समक्ष तब आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिये उसके प्रारम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक प्रगति से आगे बढ़ता है।... प्रवेश कौतूहल की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यंजना उत्सुकता से लम्बी होती है। फिर घटना की घनीभूत

तरंगें आती हैं जो कुतूहल से खिचकर चरम सीमा में परिणत होती हैं। चरम सीमा के बाद ही एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिये नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है।..........मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है जैसे एक तितली फूल पर बैठ कर उड़ जाय।"

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने अपने एकांकी नाटकों के संग्रह 'मुद्रिका' में एकांकी को टेकनीक पर बड़ी गम्भीरता से प्रकाश डाला है। उनके शब्द हैं:—

हम कला की परम्परा वाली मनको ऊबा देने वाली परिपाटी कभी भी अधिक काल तक स्वीकार नहीं कर सकते। दीर्घकाय नाटकों के लम्बे लम्बे कथोपथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयान्तरता तथा वर्णन बाहुल्य कथा-विकास तथा चरित्र-विकास की लपेट में काव्य विकास का लम्बा प्रयोग औत्सुक्य प्रधानता के लिये एक उलझी कल्पनाएँ सब बातें युगों से सबको परेशान किये है। एकांकी नाटक में हम इनकी छाँह भी देखना पसन्द नहीं करते। एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है। कार्य-कारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें स्थान नहीं होता है। एकांकी नाटक के वेग सम्पन्न प्रवाह में किसी प्रकार के अन्तर प्रवाह के लिये अवकाश

नहीं होता है । वह तो समूचा ही केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसके रूप में परभता और उत्कर्षता सर्वत्र ही बिखरी रहती है। विवरण-शैथिल्य ही उसका घातक है । कथावस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व इन सब के निदर्शन में मितव्ययिता और चातुरी का जो रूप अच्छे एकांकी नाटकों में मिलता है वह साहित्य कला की अद्वितीय निधि है। आकार का केन्द्रीकृत प्रभाव तथा वैयक्तिक और सामाजिक विशेषताओं की केवलता एकांकी नाटकों को कहीं अधिक सुन्दर बना देती हैं।

डा० वर्मा एवं श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के उपर्युक्त कथनों को पढ़ लेने के पश्चात् सेठ गोविन्द दास का निम्निलिखित कथन पठनीय है। सेठ जी का मत है :—

उपन्यास और कहानी की लेखनपद्धति (टेकनीक) में जो अन्तर है वही फर्क पूरे है नाटक और एकांकी की लेखन-पद्धति में ।"

पूरे नाटक के लिये 'संकलन-त्रय' जो नाट्यकला के विकास की दृष्टि से बड़ा भारी अवरोध है वही 'संकलन त्रय' कुछ हेर फेर के साथ, एकांकी नाटक के लिये जरूरी चीज है। 'संकलन त्रय' में संकलन द्वय' अर्थात् नाटक एक ही समय की घटना तक परिमित रहे तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में हो, एकांकी नाटक के लिये अनिवार्य है। जो यह समझते हैं कि पूरे नाटक और एकांकी नाटक का भेद केवल उसकी बड़ाई छुटाई है, मेरी दृष्टि में वे भूल करते हैं। मेरी एकांकी नाटक छोटा ही हो,

यह जरूरी नहीं है वे बड़े भी हो सकते हैं......एकांकी नाटक में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते हैं पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का हो, दूसरा पन्द्रह दिनों के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अनंतर । यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। 'स्थान संकलन' जरूरी नहीं है पर 'काल संकलन' होना ही चाहिये। किसी किसी एकांकी नाटक के लिये 'काल संकलन' भी अवरोध हो सकता है। ऐसी अवस्था में उपक्रम या उपसंहार की योजना होनी चाहिये ।......कभी कभी 'काल संकलन' रहते हुए भी इनका उपयोग हो सकता है।"... ...एक ही विचार (आइडिया) पर एकांकी नाटक की रचना हो सकती है । विचार के विकास के लिये जो संघर्ष (कनफ्लिक्ट) अनिवार्य है उस संघर्ष के पूरे नाटक में कई पहलू दिखाये जा सकते हैं। पर एकांकी में सिर्फ एक घटना... एकांकी में कथा के एक पहलू को लिया जा सकता है......... एकांकी में तो मुख्य और गौण दोनों ही पात्रों की संख्या बहुत ही परिमित रहनी चाहिये ।"

इन तीन विद्वानों के मतों के अतिरिक्त हिन्दी एकांकी की टेकनीक पर श्री अमरनाथ गुप्त, प्रो० सत्येन्द्र, श्री नगेन्द्र, श्री 'अश्क' आदि लेखकों ने भी विचार प्रकट किये हैं। अब यहाँ पर हम उपर्युक्त तीनों विद्वानों के मतों का परीक्षण करेंगे । सर्व

प्रथम हम डा० रामकुमार वर्मा के विचारों का अध्ययन करते हैं। वर्मा जी के कथनानुसार एकांकी के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं :—

१—एकांकी में एक ही घटना होती है।

२—वह घटना कौतूहल संचय करती हुई चरम सीमा पर पहुँचती है।

३—उसमें अप्रधान प्रसंग के लिये स्थान नहीं है।

४—पात्र सीमित और कथा से सुसम्बद्ध होते हैं।

५—विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित होती है।

६—घटनाओं में अनुपात अनिवार्य है।

७—कौतूहल की प्रधानता होनी चाहिए।

८—अंतर्द्वन्द्व की प्रधानता भी आवश्यक है।

९—चरम सीमा के पश्चात् एकांकी का अंत होना चाहिए।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने एकांकी के निम्नलिखित तत्वों पर जोर दिया है :—

१—सुनिश्चित सुकल्पित एक लक्ष्य।

२—एक ही घटना परिस्थिति या समस्या।

३—वेग-सम्पन्न प्रवाह का महत्व।

४—निदर्शन में मितव्ययता एवं चातुरी।

सेठ जी ने 'संविधान' को दृष्टि में रखकर एकांकी की परिभाषा निश्चित की है। उनके अनुसार

(१) संकलन द्वय—(घटना और कृत्य का संकलन) एकांकी नाटक के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(२) संघर्ष का एक पहलू भी एकांकी के लिये आवश्यक है।

श्री अमर नाथ गुप्त के अनुसार एकांकी नाटकों के लिये आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं :—

१—एकांकी का विषय एक होता है।

२—सहायक विषयों के लिये उसमें कोई गुंजायश नहीं है।

३—उसकी गति बिजली की सी है।

४—वह तुरन्त प्रारम्भ होकर अन्त की ओर अग्रसर होता है।

५—उसकी समाप्ति एक बैठक में अनिवार्य है।

६—उसे शीघ्र ही विन्दु तक पहुँचना होता है।

७—अन्त आकस्मिक होता है।

८—उसका क्षेत्र संकुचित है।

९—सहायक घटनाएँ कभी कभी। पर वे प्रधान घटना को व्यंजना में रुकावट न हों।

१०—कथा-वस्तु जटिल न हो।

११—ऐक्य एकांकी का आवश्यक अंग।

१२—एकांकी आवश्यक नहीं कि छोटा ही हो।

१३—एकांकी में विषय और समय की अल्प सीमा का ध्यान रखना आवश्यक है।

श्री नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक' में एकांकी नाटक परिच्छेद में इसके आवश्यक तत्वों पर विचार किया है। उनके मत से एकांकी के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं[1] :—

१—अनिवार्य एकता।

२— ,, एकाग्रता।

३— ,, आकस्मिकता।

४— ,, प्रभाव एवं वस्तु का ऐक्य।

५—स्थान एवं काल की एकता अनिवार्य नहीं।

६—एक अंक

७—विस्तार सीमा के अन्तर्गत

---

(१) "...एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिये कोई विशेष नियम नहीं है फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही।......एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।......उसमें एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है......एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर अपने आप आ जाती है।......संकलनत्रय का निर्वाह...आवश्यक नहीं है। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किये बिना भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है......।"

हिन्दी नाटक—ले० नगेन्द्र

८—जीवन का एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना की एक परिस्थिति का चित्रण।

उपर्युक्त समस्त विद्वानों के मतों पर विचार कर लेने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एकांकी नाटक की अपनी टेकनीक है। वह स्वतंत्र रूप से साहित्य का एक अंग है। वह साहित्य के किसी अंग विशेष का संस्करण भी नहीं है। संक्षेप में एकांकी के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं:—

(१) एकांकी नाटक जीवन के एक पहलू, विषय, घटना अथवा समस्या की व्यंजना करता है।

(२) एकांकी की समाप्ति एक बैठक में ही अनिवार्य है।

(३) आरम्भ के पश्चात् उसमें अन्त की ओर अग्रसर होने के लिये बिजली की सी तीव्र गति होनी चाहिये।

(४) सहायक विषयों के लिये एकांकी में कोई स्थान नहीं है।

(५) प्रधान पात्र और गौण पात्र नाटक में सीमित संख्या में होने चाहिये।

(६) 'संकलन द्वय' नाटक के लिये अनिवार्य नहीं है।

(७) एकांकी के लिए आकार की सीमा अपेक्षित नहीं है।

(८) एकांकी की कथावस्तु अति सरल हो।

(९) ऐक्य एकांकी का आवश्यक अंग है।

(१०) विषय और समय की किफ़ायत।

(११) क्षेत्र संकुचित पर प्रभाव-साम्य अनिवार्य

एकांकी एवं नाटक

एकांकी नाटकों की अपनी विशेष टेकनीक है। जिस प्रकार वह साहित्य के अन्यान्य अंगों से भिन्न है और अपनी व्यक्तिगत सत्ता रखता है उसी प्रकार वह नाटकों से भिन्न है। एकांकी एवं नाटक दोनों ही एक नहीं हैं। वस्तुतः वे भिन्न हैं। हम उसे बड़े नाटकों का संक्षिप्त रूप भी नहीं कह सकते। नाटकों के अंकों में अंत की ओर अग्रसर होने की वह तीव्र गति कहीं नहीं दृष्टिगत होती जो एकांकी नाटकों में सर्वत्र दिखाई देती है। बड़े नाटकों में मुख्य कथा-वस्तु एवं गौण या प्रासंगिक कथा-वस्तु एक दूसरे से मिल-जुल कर और साथ लिपटी हुई चलती हैं। इसी आधार पर एक ही अंक में अनेक दृश्यों का संविधान होता है।

जब समस्त जीवन अथवा जीवन के विस्तृत भाग की अपेक्षा उसके केवल एक भाग या एक भावना के चित्रण की आवश्यकता पड़ती है तो एकांकी नाटक की रचना की जाती है। एकांकी नाटक में केवल एक ही अंग होता है। नाटककार अपनी सुविधानुसार या कथा के अन्य अंगों को स्पष्ट करने के विचार से उस अंक के अन्तर्गत अन्य दृश्यों की अवतारणा भी कर लेता है

किन्तु अनेक नाटककार केवल एक अंक में एक दृश्य ही रखने के पक्ष में हैं। प्राचीन रूपकों में भी केवल एक अंक के रूपक होते थे। रूपकों में भाण, अंक और वीथी तथा उपरूपकों में गोष्ठी और नाट्य-रासक एक ही अंक में लिखे जाते थे किन्तु ये सब रूपक और उपरूपक जो एक ही अंक में समाप्त होते थे, संस्कृत नाट्य-शास्त्र से ही शासित थे। आज का एकांकी नाटक पश्चिम की देन है। एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता रहती है। उसमें एक ही घटना रहती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक एक वाक्य और एक एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से सम्पूर्णतया सम्बद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिये अनावश्यक पात्र की गुंजायश नहीं। प्रत्येक पात्र की रूप रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं है। जिस प्रकार कहानी उपन्यास से भिन्न है उसी प्रकार एकांकी नाटक साधारण नाटक से। संक्षेप में यह अन्तर निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है :—

साधारण नाटक	एकांकी नाटक
(१) जीवन की विविध रूपता	(१) जीवन की एक रूपता।

(२) अनेक पात्र	(२) परिमित पात्र
(३) कथा का सांगोपांग विचार	(३) कथा में अनावश्यक अंग की उपेक्षा। केवल वस्तु-स्थिति के अनुसार कथा की आवश्यक सृष्टि
(४) अनेक अंक	(४) केवल एक अंक
(५) चरित्र चित्रण में विविधता	(५) चरित्र चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूप-रेखा
(६) कौतूहल की अनिश्चित स्थिति	(६) प्रारम्भ में ही कौतूहल की स्थिति
(७) वर्णनात्मक की अधिकता	(७ व्यञ्जनात्मकता की अधिकता और प्रभावशीलता
(८) चरम सीमा का विस्तार	(८) चरम सीमा का बिन्दु में केन्द्रीकरण
(९) कथानक की घटना विस्तार से मन्दगति	(९) कथानक की घटना न्यूनता से क्षिप्र प्रगति

एकांकी नाटक और कहानी

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों में "संसार के अनेक प्रामाणिक साहित्यिक आलोचकों के मतानुसार एकांकी नाटक कहानी का रंगमंच पर खेला जाने वाला संस्करण मात्र है। परन्तु यह कथन नितांत भ्रमपूर्ण है। कहानी और एकांकी की पृथक्-पृथक् टेकनीक है। दोनों की टेकनीक में मौलिक भेद है। जब कहानी को उपन्यास का लघु संस्करण या छोटा रूप नहीं माना जाता तो एकांकी को कहानी का संक्षिप्त रूप या संस्करण कैसे कहा जा सकता है ? साहित्य के प्रत्येक अंग का व्यक्तिगत महत्व है। साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है पर उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे एक ही हैं, उनमें भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। आज उस युग में जब वैज्ञानिक अध्ययन ही परिपाटी चल पड़ी है; जब प्रत्येक बात को उसके मूल में रखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उस समय एकांकी नाटक को कहानी का संस्करण कहना हास्यास्पद है।

कहानी और एकांकी में सर्व प्रथम भेद है ध्येय की भिन्नता। कहानी की रचना एक विशेष ध्येय को रखकर की

जाती है जब कि एकांकी की रचना में ध्येय नितांत भिन्न है। दूसरे, कहानी का निर्माण पढ़ने के लिये होता है रंगमंच के लिए नहीं। इसके विपरीत एकांकी नाटक की रचना सर्व प्रथम नाटकीयता को ध्यान में रख कर की जाती है। इसके पश्चात् अन्य तत्वों पर ध्यान रखा जाता है। तीसरे, कहानी लेखक लिखते समय केवल पाठकों का ही ध्यान रखता है। इसके विरुद्ध एकांकीकार रंगमंच अथवा दर्शक और पाठक दोनों वर्गों का ध्यान रखता है। चौथे, कहानी में लेखक का व्यक्तित्व अधिक रहता है और एकांकी में इसका अभाव सा रहता है। पाँचवें, कहानी लेखक एक कहानी में केवल घटना अथवा चरित्र-चित्रण में से एक का ही ध्यान रखता है, और एकांकी लेखक दोनों चरित्र-चित्रण तथा घटनाओं का एक साथ ही ध्यान रखता है।

संक्षेप में यही कहानी एवं एकांकी नाटकों का भेद है।

एकांकी नाटक में संघर्ष और द्वन्द्व

दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष अन्तर्द्वन्द्व है और दो विरोधी परिस्थितियों का संघर्ष बाह्यद्वन्द्व कहा जाता है। नाटक में संघर्ष वा द्वन्द्व का चित्रण एवं प्रदर्शन अत्यावश्यक है। द्वन्द्व के प्रदर्शन से नाटक की कला को विकास प्राप्त होता है और साथ ही नाटक अधिक रोचक बन जाता है। द्वन्द्व से नाटक की कथा-वस्तु में अधिक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि नाटक का प्राण उसके संघर्ष में पोषित होता है। यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन शक्ति में होगा उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक-होगा। अतएव नाटककार ऐसी स्थितियों की खोज में रहता है जिसमें उसे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ मिलती हैं। नाटक-रचना के पूर्व लेखक के हृदय में ही एक विप्लव होता है। वह उस विप्लव को स्वानुभूति की फूँक से और भी उत्तेजित कर देता है। फिर उसे एक ज्वालामुखी का रूप देकर अपने नाटक में रख देता है। उससे व्यक्ति और समाज की न जाने कितनी ही भाव-परम्पराएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं और फिर उस नष्ट हुए भाव-समूह से एक नवीन पथ के निर्माण की

ओर नाटककार का संकेत होता है। कितने ही अंध-विश्वासों के भीतर से विश्वास की स्वास्थ्य-प्रद आशाएँ विकसित होती हैं। जीवन के अन्तराल में निहित न जाने कितनी सुप्त प्रवृत्तियाँ जीवन में प्रथम बार जाग्रत होती हैं। समाज एवं परिवार के संघर्षों को रंगमंच पर उपस्थित करके नाटककार जनता को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित करा सकता है।

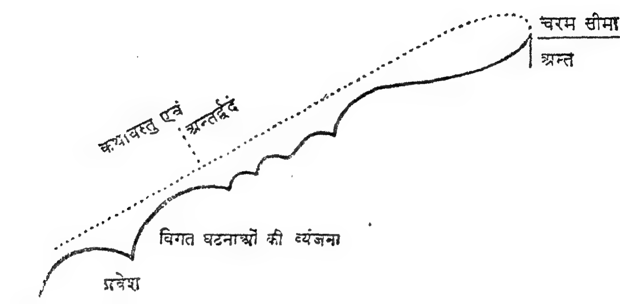
आन्तरिक संघर्ष हृदय के रहस्यों को प्रकाश में लाने में सहायक होता है। वह जीवन की अमर कृति है, साहित्य की अमर ज्योति है। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' में शकुन्तला के स्वीकार करने में दुष्यन्त की भावनाओं का राजोचित, स्वाभाविक एवं मार्मिक संघर्ष अभिव्यक्त किया है। शेक्सपियर जूलियस सीज़र में ब्रूटस के हृदय में सीजर के प्रति अनुराग और देश के प्रति भक्ति में कैसा सुन्दर द्वन्द्व उपस्थित करता है। वास्तव में यह मानव जीवन का अनन्त दर्शन है। बाह्य संघर्ष में शारीरिक शक्ति प्रदर्शन वा द्वन्द्व युद्ध की अधिक प्रधानता है और यह स्थिति रंगमंच पर मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने में सफल होती है। 'मालती-माधव' में माधव का मांस बेचना इसका साधारण उदाहरण है। नाट्यकला की दृष्टि से आन्तरिक संघर्ष वा अन्तर्द्वन्द्व का महत्व कहीं अधिक है। यही आन्तरिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व दुःखांत नाटकों में तो और भी स्पष्ट, कलात्मक और मोहक होकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है। शेक्सपियर ने हैमलेट नाटक

की रचना में इस सत्य के कसौटी पर कस कर हमें जीवन के अपार ज्ञान का परिचय दिया है । उसमें बाह्य संघर्ष से रंगमंच रक्त-रंजित होकर ही नहीं रह जाता है, प्रत्युत आन्तरिक संघर्ष से निराश और अकर्मण्य हृदय की विशेषता और आकांक्षा का अश्रु सिंचित रहस्य शतमुख से उस पर हाहाकार करता है । हैमलेट में मनुष्यता के क्रन्दन एवं मृत्यु की मुस्कान के स्पष्ट चित्र अंकित हैं ।

अतः आन्तरिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व नाटक की सबसे प्रधान बात है । इब्सन ने तो मानव-चरित्र की उत्कृष्ट कल्पना ही नाटक की सबसे उत्तम कृति मानी है, और मानव चरित्र की कल्पना बिना आन्तरिक संघर्ष के हो भी नहीं सकती। इसके द्वारा भावनाओं का गुप्त संसार हमारे सामने मूर्त्त हो जाता है।

नाट्य-कला की दृष्टि से भी अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा महत्व है। जैसे-जैसे कथा वस्तु तीव्र गति से चरम सीमा की ओर बढ़ती जाती है, वैसे ही पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व दिन के प्रकाश की भाँति प्रत्यक्ष होता जाता है। कथा-वस्तु और अन्तर्द्वन्द्व के चरम सीमा पर पहुँच जाने के पश्चात् शीघ्र ही नाटक का अन्त हो जाता है। अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति के पश्चात् लेखक उसमें एक शब्द भी जोड़ना अनावश्यक समझता है। पाठक या दर्शक भी अन्तर्द्वन्द्व के समाप्त होते ही अनुभव करता है कि नाटक की समस्त घटनाएँ एक बिजली की भाँति उसके हृदयाकाश पर तड़प कर विलीन हो

गईं। एकांकी नाटक में कथा-वस्तु की गति के साथ अन्तर्द्वन्द्व का रेखा-चित्र हमारी कल्पना में कुछ इस प्रकार है :—



प्रस्तुत चित्र में प्रवेश के पश्चात् शीघ्र ही कथा-वस्तु और अन्तर्द्वन्द्व का श्रीगणेश हो जाता है और समाप्ति चरम सीमा पर होती है। कथा वस्तु की गति और विकास में अन्तर्द्वन्द्व सदैव सहायक बना रहता है। इससे कथा-वस्तु को बल प्राप्त होता है।

हिन्दी के एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा के नाटकों में आन्तरिक संघर्ष को प्रधान रखने की चेष्टा सबसे अधिक दिखाई देती है। "उनके पात्र अपने अन्तर्द्वन्द्वों के बीच हमारे हृदय-पटल पर सहानुभूति की एक अमिट रेखा छोड़ जाते हैं। वे सदैव साधारण से उच्च स्तर पर उठने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में अपने साथ हमारे हृदय को भी ऊँचा उठा लेते हैं। वे जीवन के बाह्य और सामयिक द्वन्द्वों की अपेक्षा मानव हृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर इंगित करना

ज्यादा पसंद करते हैं'"।[१] डा० वर्मा लिखित 'चंपक' में किशोर का अन्तर्द्वन्द्व, 'नहीं का रहस्य' में प्रो० हरिनारायण का मानसिक संघर्ष, 'बादल की मृत्यु' में बादल का मनोवेग,[२] "चारुमित्रा" में चारुमित्रा का सुदृढ़ चरित्र-सौंदर्य, और "रजनीकी रात"[३] में रजनी के आन्तरिक संघर्ष के उत्तम चित्र उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार गणेश प्रसाद द्विवेदी लिखित "सोहाग बिन्दी" में प्रतिभा देवी का अन्तर्द्वन्द्व बहुत सुन्दर बन पड़ा है।[४] इसी प्रकार सेठ गोविन्द दास के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व के अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[५]

बाह्य-संघर्ष अथवा बाह्य द्वन्द्व का विनोद अन्य कोटि के कलाकारों, सफल नाटककारों तथा परिष्कृत अभिरुचिवान् व्यक्तियों को प्रिय नहीं है। बाह्य सघंर्ष से नाटक में जीवन नहीं अवतरित हो सकता है। इस अभाव की पूर्ति अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण से ही हो सकती है।

—:०:—

(१) श्री रामनाथ सुमन
(२) "पृथ्वी राज की आँखे" संग्रह
(३) "चारुमित्रा" संग्रह
(४) 'सोहागबिन्दी' संग्रह
(५) "स्पर्द्धा"

हिन्दी एकांकी नाटकों का वर्गीकरण

हिन्दी एकांकी नाटकों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। श्री अमरनाथ गुप्त ने एकांकी नाटकों के वर्गीकरण का आधार पाश्चात्य प्रणाली बनाई है। डा० नगेन्द्र, श्री सत्येन्द्र आदि लेखकों के वर्गीकरण के आधार भिन्न है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नः"। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक लेखक ने अपने विचार से वर्गीकरण अत्यन्त स्पष्ट और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है। एकांकी का वर्गीकरण सामान्य तथा (१) प्रकार भेद (२) विषय (३) टेकनीक, (४) प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है। श्री अमरनाथ गुप्त ने वर्गीकरण 'प्रकार' के आधार पर किया है यद्यपि मूल में पाश्चात्य प्रणाली ही है। सर्व प्रथम हम 'प्रकार' भेद को लेते हैं। गुप्त के अनुसार हिन्दी एकांकी नाटकों का वर्गीकरण निम्नलिखित है[1] :—

(१) "समस्यात्मक एकांकी जिसका निर्माण किसी समस्या को लेकर लेखक करता है। इसका दूसरा नाम समस्या नाटक

---

(१) एकाँकी नाटक—प्रो० अमरनाथ गुप्त पृ० २५—२६

भी है । 'बिशप कैंडिलस्टिक' इसी प्रकार की एक सफल रचना है ।

(२) खुले स्थान पर खेले जाने वाले एकांकी जिन्हें 'फैनटैसी' (Fantasy) भी कहते हैं । हैराल्ड ब्रिगहाउस का 'हाउ दि वैदर इज मेड' ऐसा ही नाटक है ।

(३) प्रहसन—जिसमें लेखक का ध्येय स्वयं हँसना और दूसरों को हँसाना होता है । उदाहरणार्थ जॉन ब्रेडन का 'रोरी एफ़ोरसैड' है ।

(४) ऐसे एकांकी जिन्हें हम 'सीरियस' कह सकते हैं और जो किसी साहित्य की उत्तम से उत्तम बड़ी रचना का मुक़ाबला कर सकते हैं । उदाहरणार्थ मारिस मैटरलिंक का 'इंट्रूडर' है ।

(५) जिनमें लेखक का ध्येय किसी घटना, किसी देश के रीति-रिवाज आदि पर कटाक्ष करना होता है । उदा० लार्ड डन्सैनी के एकांकी नाटक जिनमें अन्ध विश्वास पर व्यंग्य है ।

(६) मैलोड्रैमेटिक एकांकी । किसी के दुःख में दुखी होने के बदले जब हम हँसते हैं तब घटना मैलोड्रैमेटिक हो जाती है । इसके ठीक विपरीत 'पैथास' है ।

(७) ऐसे एकांकी जिनका अन्त आनन्दमय है परन्तु जिनका विषय गरीब मज़दूर आदि का जीवन है । उदा० गर्टरूड जैनिंग्स लिखित 'बिटवीन दि सैव एंड दि सेवाय' है ।

(८) ऐतिहासिक एकांकी । उदा० जान ड्रिंकवाटर लिखित 'एक्स इक्वल टु ज़ीरो'

(९) व्यंग्यात्मक एकांकी। जो एक दर्द भरा व्यंग्य लिये हो। उदा० स्टेनली हाटन विरचित 'दि मास्टर्स अव् दि हाउस'

(१०) हार्लिकिनेड एकांकी। इस प्रकार के एकांकी का विचित्र इतिहास है। बहुत समय पहिले इनका प्रचार था। मुख्य-मुख्य घटनाएँ केवल लिखी जाती हैं और पात्र अभिनीत होते समय कथोपकथन द्वारा इनको सुसंबद्ध रूप देते हैं। इसके पात्र एक ही प्रकार की बाह्य-भूषा में हमारे सम्मुख आते हैं। हमारे यहाँ गाँवों में आज भी होने वाले स्वाँग आदि के ही समान ये रचनाएँ थीं। इन्हें कुछ समालोचक फैनटैसी भी कहते हैं। औलिफैंट डाउन का एकांकी 'दि मैटर अव् ड्रीम्स' भी ऐसा ही है।

(११) काकनी एकांकी मज़दूरों की विकृत भाषा में लिखे गए एकांकी को कहते हैं। व्याकरण के नियमों से इनकी भाषा प्रायः मुक्त रहती है। हैराल्ड चैपलिन का 'दि डंब एंड दि ब्लाइंड' इसी श्रेणी का है।

(१२) सामाजिक नाटक

श्री अमर नाथ गुप्त के इस वर्गीकरण पर जब हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर ही हिंदी एकांकी नाटकों का वर्गीकरण किया है। वस्तुतः यह उनका मौलिक प्रयास नहीं है। इसके पश्चात् हम नगेन्द्र (अब डाक्टर) द्वारा किए गए वर्गीकरण पर विचार

करेंगे । श्री नगेन्द्र ने भी एकांकी के कुछ प्रकारों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है[1] :—

(१) सुनिश्चित टेकनीक वाला एकांकी—जिसमें संकलन त्रय हो तो श्रेष्ठ, नहीं तो प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य, स्थान और काल की एकता का निर्वाह भले ही न हो।

(२) संवाद या संभाषण—यूरोप के साक्रेटीज के संवाद। हिन्दी में पंडित हरिशंकर शर्मा के 'चिड़िया घर' के हास्य व्यंग्यमय संवाद।

(३) मोनोड्रामा—स्वगत का ही परिवर्धित रूप। उदाहरणार्थ—सेठ गोविन्ददास का 'चतुष्पथ'

(४) फ़ीचर—यह अत्यन्त आधुनिक प्रयोग रेडियो का आविष्कार है। इसका स्वरूप प्रायः सूचनात्मक होता है। इसके किसी विषय पर प्रकाश डालने के लिए उससे सम्बद्ध बातों का नाट्य सा किया जाता है। उदाहरणार्थ 'प्रेमचन्द की दुनिया' 'दिल्ली की दिवाली।'

(५) फ़ैंटेसी :—यह एकांकी का अत्यन्त रोमांटिक रूप है। इसके लिये यह अनिवार्य है कि लेखक का दृष्टिकोण एकांत वस्तुगत और स्वच्छन्द हो। उसमें कल्पना का मुक्त विहार होना चाहिए। किसी प्रकार का मनोगत विधान उसे सह्य नहीं। उदाहरणार्थ :—'बादल की मृत्यु' डा० रामकुमार वर्मा विरचित।

---

१ आधुनिक हिन्दी नाटक पृ० १२७-१२०

(६) 'झाँकी' को दर असल एकांकी का शुद्ध रूप समझना चाहिए। इसमें केवल एक दृश्य होता है। अतः स्थान और समय के ऐक्य का पूरा पूरा निर्वाह हो जाता है।

(७) 'रेडियो प्ले' का एकांकी से कोई मौलिक भेद नहीं है।

श्री नगेन्द्र कृत एकांकी नाटकों का यह प्रकार-विभाजन वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। "प्रकार का अभिप्राय है स्वभाव और टेकनीक, रूप और रंग। जो एकांकी एक दूसरे से स्वभाव और टेकनीक तथा रूप और रंग में भिन्न हैं वे 'प्रकार' के भिन्न माने जायेंगे। इस दृष्टि से प्रो० नगेन्द्र के वर्गीकरण में प्रो० अमरनाथ गुप्त के वर्गीकरण में से हारलीकिनेड एकांकी तथा कॉकनी एकांकी और जोड़े जा सकते हैं। हारलीकिनेड स्वांग जैसे एकांकियों का लिखित रूप नहीं मिल सकता, अतः साहित्य की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है। कॉकनी एकांकी के अर्थ यदि केवल मजदूरों की विकृत भाषा के प्रयोग से बने एकांकी ही न माना जाय वरन् ऐसा एकांकी माना जाय जो साधारण बोलचाल की मुक्त भाषा में लिखा गया हो, तो ऐसे नाटक हिन्दी में मिल सकेंगे जिनमें प्रायः गँवारू बोली का उपयोग हुआ है। इस कोटि में राहुल बाबा के भोजपुरी (छपरा-बलिया) की भाषा में लिखे हुए एकांकी तथा सूर्यकरण पारीक का 'प्रतिज्ञापूर्ति' जो राजस्थानी में लिखा गया है, नहीं आ सकेंगे। इन नाटकों के पीछे भाषा की चेतना

विद्यमान है। अतः भाषा का रूप सुनिश्चित है, वह भले ही साहित्यिक हिन्दी न हो।[1]

श्री सत्येन्द्र ने हिन्दी एकांकी नाटकों का वर्गीकरण निम्न-लिखित आधार पर किया है[2] :—

(क) प्रकार की दृष्टि से।

(ख) मूल वृत्ति के आधार पर।

(ग) विषय के आधार पर।

(घ) वादों के आधार पर।

अब यहाँ हम सबसे प्रथम प्रकार की दृष्टि से किए गए विभाजन को लेते हैं।

(१) मालावत् एकांकी—एक उद्देश्य की ओर ले जाने वाले, पर एक दूसरे से कथा-रूप में सम्बद्ध विविध दृश्य किसी एक सूत्र द्वारा संयुक्त कर एकांकी बना डाले गये हों। उदाहरणार्थ पहाड़ी लिखित 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा'

(२) वे एकांकी जिनमें मूल कथानक के प्रधान पात्रों के अतिरिक्त एक गौणपात्र को उन प्रधान-के-पात्रों द्वारा अपनी कथा को प्रकट करने या सुलझाने का केन्द्र मान लिया गया हो, इसका नाम 'गौण प्रधान एकांकी' होना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रो० आनन्द लिखित 'डाक्टर जीवन।'

---

(१) हिन्दी एकांकी—प्रो० सत्येन्द्र पृ० १४५।

(२) ... ... १५७—१६२

(३) अलौकिक एकांकी :—ये फैंटेसी या कल्पनालोकीय एकांकी नहीं कहे जा सकते। इनके पात्र इस भूमि के नहीं होते। वे और किन्हीं भूतलीय समस्याओं पर विचार करते हैं। जयनाथ नलिन का 'परमात्मा का पाश्चाताप' तथा डा० रामकुमार वर्मा का 'अंधकार' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

(४) एकांकी संक्षिप्ति :—किसी बड़े या प्राचीन नाटक को एकांकी में परिणत कर देना यह एक अलग कौशल है। साधारण एकांकी के अन्तर्गत अपनी स्वभाव भिन्नता के कारण यह अलग प्रकार माने जाने का अधिकारी है। सरस्वती अक्टूबर १९४३ में प्रकाशित 'उत्तर राम चरित' कुछ इसी प्रकार का एकांकी है।

(५) उपसर्गीय एकांकी :—सेठ गोविन्ददास के 'उपक्रम' और 'उपसंहार' वाले एकांकी भी रूप रंग के भिन्नता रखने के कारण एक अलग प्रकार बनाते हैं। इन्हें उपसर्गीय एकांकी कहा जा सकता है।

यह तो हुआ प्रकार के आधार पर श्री सत्येन्द्र का हिन्दी एकांकियों का विभाजन। अब विषय के आधार पर कृत वर्गीकरण देखिये। विषय के आधार पर श्री सत्येन्द्र ने एकांकी नाटकों के पाँच प्रकार माने हैं :—

(क) सामाजिक
(ख) ऐतिहासिक
(ग) राजनीतिक
(घ) चारित्रिक
(ङ) तथ्य प्रदर्शक

(क) सामाजिक एकांकी में समाज सम्बन्धी अवस्था या व्यवस्था का दिग्दर्शन कराया जाता है। विवाह, विधवा, स्त्रियों का समाज में स्थान तथा यौन समस्या आदि विषयों पर लिखित एकांकी सामाजिक है। पाश्चात्य और प्राच्य सभ्यता के भावों की जिसमें विवेचना हो, वे नाटक सामाजिक होंगे।

(ख) ऐतिहासिक एकांकी में इतिहास का कोई वृत्त लिया जाता है। शुद्ध ऐतिहासिक एकांकी वह माना जाता है जिसमें नाटककार ने इतिहास का अध्ययन कर तत्कालीन वातावरण प्रस्तुत कर देने का यत्न किया हो।

(ग) राजनीतिक एकांकी—इन एकांकियों का विषय राजनीतिक होता है। हिन्दू मुसलिम समस्या, रोटी-धन के वितरण की समस्या राजनीतिक एकांकियों के विषय हैं।

(घ) चारित्रिक एकांकी में किसी व्यक्ति के चरित्र विशेष की झाँकी दिखाई जाती है और उसी चरित्र की सुन्दरता या असुन्दरता की अनुभूति को प्रकट करने के लिए ही जैसे नाटककार ने नाटक लिखा हो। उदाहरणार्थ डा० रामकुमार वर्मा का 'उत्सर्ग' और 'रेशमी टाई' तथा सेठ गोविन्ददास का एकांकी—'धोखेबाज़।'

(ङ) तथ्य-प्रदर्शक एकांकी—में लेखक सन्देश देने या निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति से दूर होकर जो देखता है, जो

समझता है उसे यथार्थतः प्रस्तुत कर दे। उदाहरण के लिए सेठ गोविन्ददास लिखित 'मानव-मन' उसी स्वभाव का नाटक है।

अब शैली के आधार पर श्री सत्येन्द्र कृत एकांकियों का वर्गीकरण पढ़िये शैली की दृष्टि से उन्होंने सात भेद किये हैं जो निम्न-लिखित हैं :—

(१) सीधी सादी शैली (५) बौद्धिक और काव्यात्मक शैली
(२) व्यंग्यात्मक शैली (६) समस्यामूलक शैली
(३) हास्यपूर्ण शैली (७) दुःखांत एवं सुखांत शैली
(४) गम्भीर शैली

(१) सीधी सादी शैली के एकांकी वे हैं जिनमें जितना कहना अपेक्षित है उतना ही प्रकट है। शब्द और अर्थ बहुत स्थूल।

(२) व्यंग्यात्मक एकांकी वे हैं जिनमें जो कहा गया है उनसे विशेष ध्वनित हो, जिनमें व्यंग्य हो, कटाक्ष हो, वाग्वैदग्ध्य हो। उदाहरणार्थ भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक'

(३) हास्यपूर्ण नाटक—इन्हीं को प्रहसन कहते हैं। इनकी रचना का लक्ष्य पाठक एवं दर्शक को हँसाना है। उदाहरणार्थ डा० रामकुमार वर्मा का 'कहाँ से कहाँ' भगवतीचरण वर्मा का 'सब से बड़ा आदमी'

(४) गम्भीर शैली में लिखे हुए नाटक, हल्की शैली में लिखे हुए नाटकों से भिन्न स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं।

(५) बौद्धिक और काव्यात्मक नाटकों में बुद्धिवाद, कल्पना, कवित्व, और भावुकता की प्रधानता रहती है।

(६) समस्या मूलक नाटक अपना अलग वर्ग बनाते प्रतीत होते हैं। यद्यपि जिन समस्याओं को वे प्रस्तुत करते हैं वे बहुधा सामाजिक या राजनीतिक या यौन होती हैं।

(७ दुःखांत और सुखांत के भी दो भेद माने जाते हैं जो बड़े नाटकों में भी मिलते हैं।

अब मूल वृत्ति के आधार पर एकांकियों के भेद निम्न-लिखित हैं :—

(१) आलोचक एकांकी (४) व्याख्या मूलक एकांकी
(क) विवेकवान (ख) भावुक
(२) समस्या एकांकी (५) आदर्श मूलक एकांकी
(३ अनुभूतिमय एकांकी (६) प्रगतिवादी एकांकी

(१) आलोचक एकांकी:—"एकांकियों का उपयोग सभी प्रकार के कलाकार कर रहे हैं। वे कलाकार भी एकांकी लिख रहे हैं जो अपने को जीवन के आलोचक समझते हैं। वे घर में, मन में, समाज के भीतर प्रवेश कर उसकी कमज़ोरियों को उभार कर रख देते हैं।" वे कोई समस्या का आदर्श नहीं अंकित करते वरन् आलोचना करते हैं। दोषों की ओर अँगुल्या-निर्देशन करते हैं। सामान्यतया इस प्रकार के कथानक काल्प-

निक पर यथार्थ जगत को लिये हुए चलते हैं। पात्रों में उद्वेग, तीव्रता, व्यंग्य, कटुता और परिहास होता है।

विवेकवान् :—उपर्युक्त आलोचकों में एक वे हैं जो विवेकवान् हैं। इनके पात्र भी विवेकशील हैं। एक पात्र किसी सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज़ के समक्ष खड़ा है या किसी घरेलू घटना से झगड़ रहा है।

भावुक:—इसके अन्तर्गत वे एकांकी हैं जो जीवन की आलोचना बुद्धि विकास से नहीं करते। ये घटनाओं या परिस्थितियों को किसी आधार पर प्रथा की कसौटी की भाँति खड़ा कर देते हैं, वहाँ वह आचार या प्रथा बिना तर्क या विवाद या शाब्दिक आलोचना के, विश्लेषित होकर स्वयं लांछित आलोचित सी हो जाती हैं। उसमें भावुकता का अंश अधिक रहता है। उदाहरण के लिये उपेन्द्र नाथ 'अश्क' के नाटक देखिये। जैनेन्द्र का 'टकराहट' इसी कोटि का है।

(२) समस्या एकांकी:—आलोचना करना मात्र ही कलाकार का धर्म नहीं है। वह आलोचना करता हुआ उस समस्त व्यापार में निहित समस्या को खोल कर रख देता है। जो स्थिति है वह क्यों है? क्या उसका उत्तर दीखने वाली स्थितियों, घटनाओं, व्यापारों और कार्य-कारण की परम्पराओं में है? वह एक पर्दा सा फाड़ कर भीतर झाँकने के लिए कहता है .... इस एकांकीकार में उत्तेजना भी है पर गम्भीरता सागर से भी

अधिक है। बौद्धिक तत्व प्रधान है पर भावुकता को अस्त्र की भाँति तीक्ष्ण धार वाली बनाये हुए है।......यह कलाकार वाग् वैदग्ध्य का तो पूर्ण अधिकारी होता है। एक एक आधार के अन्तर-रहस्य का जैसे यह विधाता ही है।......भुवनेश्वर के एकांकी नाटक इसी वर्ग के हैं।

(३) अनुभूतिमय एकांकी—ऐसे भी एकांकी हैं जो जगत और उसके व्यापार को देखते हैं। उसके प्रत्यक्ष और मूर्त रूप को देखते हैं—उनमें कहीं उन्हें कोई आदर्श मनोरम प्रतीत होने लगता है, कोई व्यापार चमत्कार। वे इस चल जगत् में किसी हृदय-स्पर्शी अनुभूति को पाकर विमुग्ध हो जाते हैं और एकांकी कला के द्वारा उसे प्रस्तुत कर देते हैं। उनके मन में उमड़ा हुआ सौन्दर्य, ज्ञान का कण, या कल्याण का दर्शन विविध पात्रों के रूप में अभिराम सुषमा के साथ प्रकट हो जाता है।......कलाकार की लेखनी जैसे इठलाती किसी अप्सरा लोक में विचरण कर उठी हो। डा० रामकुमार वर्मा के कितने ही एकांकी इसी प्रकार के हैं।

(४) व्याख्यामूलक एकांकी—एकांकीकार कभी कभी प्रबुद्ध हो उठता है, उसने जो जाना और सुना है अथवा जिसे वह जगत के द्वारा जाना हुआ और समझा हुआ समझता है उसे अपनी कला का विषय बनाता है, पर उसकी वह कोई अनूठी व्याख्या करता प्रतीत होता है। कोई नया रूप या नया कारण वह प्रस्तुत कर देता है। ऐसा एकांकीकार बहुधा इतिहास और

पुराणों से अपने कथानक चुनता है और उन पात्रों अथवा कथा की नूतन सामाजिक दृष्टिकोण से व्याख्या कर रख देता है। कल्पना से भी संभव कहानी बना सकता है पर तब वह किसी प्रचलित रूढ़ि की नयी व्यवस्था करने का उद्योग करता होता है। सेठ गोविन्ददास के कुछ ऐतिहासिक एकांकी, अवस्थी जी के भी एकांकी इसी कोटि में आते हैं।

(५) आदर्श मूलक एकांकी:—इन सब से भिन्न वह एकांकी है जिसमें किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की गई हो। आदर्श किसी व्यक्ति में उतरा है और वह आदर्शमय होकर महान् पूजा योग्य और अनुकरणीय हो गया है। भावुकता और भक्ति का समावेश इसमें हो उठता है। इस नाटककार का प्रधान साधन रस है। हम चरित्र के उत्थान को देखते हैं, कठिनाइयों की भीषणता को देखते हैं और आदर्श पुरुष अटल अपने मार्ग पर ऊँचा बढ़ता ही चला जाता है। उदा०—'कुनाल'

(६) प्रगतिवादी एकांकी:—वे एकांकी जो देश, समाज और व्यक्ति की वर्तमान स्थिति को लेकर किसी विशेष कर्तृत्व के लिये कटिबद्ध हो जाने के लिये प्रेरणा लिये हुए हैं। इनमें समस्त मोहों का परित्याग होता है। वस्तु-स्थिति की कठोरता का नग्न चित्र और व्यंग्य से मिलने वाला उनके लिये परामर्श ये एकांकी देश और संसार में होने वाली किसी भी घटना को अपना विषय बना सकते हैं। वह युद्धों का मोर्चा हो सकता है, बंगाल की भुखमरी हो सकती है, रेल की दुर्घटना हो सकती

है, राशनिंग का दौर-दौरा हो सकता है, मिल की हड़ताल, विद्यार्थियों का विद्रोह और वह सब जो आज चारों ओर चल रहा है। पर वह केवल चित्र या वर्णन के लिये नहीं, तत्सम्बन्धी प्रगति के लिये कर्तृत्व की प्रेरणा के लिए है। पलायनवाद का विरोधी है यह, जड़ता भी नहीं चाहता। कला के मूल्यों को सामाजिक ऐतिहासिक महानताओं पर न्यौछावर होता देखना चाहता है। इनके लेखकों में वैज्ञानिक भौतिकवाद और समाज-वाद का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

मूल प्रवृत्तियों के आधार पर श्री सत्येन्द्र का हिन्दी एकांकी नाटकों का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सफल हुआ है। इतना अच्छा वर्गीकरण हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी के प्रायः सभी एकांकी नाटक इस मूल वृत्ति विषय के विभाजन के अन्तर्गत आ जाते हैं।

हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों की भाँति एकांकी साहित्य में भी वादों का अभाव नहीं है। हिन्दी में दो प्रकार के एकांकी-कार है। प्रथम वे जो किसी न किसी 'वाद' के ही आधार पर अपने नाटक की रचना करते हैं और दूसरा वर्ग यह है जो अपनी रचना में कोई न कोई वाद ले ही आता है अथवा अन-जाने ही कोई न कोई वाद उसकी रचना में स्थान पा जाता है। आज साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में सामान्यतया आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद और प्रभाववाद का आधिक्य है और एकांकी नाटक-साहित्य

इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता। साहित्य का क्षेत्र आज आदर्शवाद से अधिक प्रभावित है। हिन्दी के कलाकारों ने सदैव से आदर्शवाद पर अधिक जोर दिया है और आज के साहित्य-कार भी उस परम्परा की रक्षा कर रहे हैं।

आदर्शवादः—श्री सत्येन्द्र के शब्दों में "कवि और कलाकारों ने स्थूल से स्थूल आदर्श से आरम्भ कर सूक्ष्म से सूक्ष्म तक पहुँच दिखाई, लौकिक तथा अलौकिक सभी ओर उन्होंने आदर्श प्रस्तुत किये हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने इन्हें खड़ा किया है—उन्होंने आदर्श को विविध दृष्टियों से ग्रहण किया है और विविध रूपों और शैलियों में ढाल कर उन्हें साहित्य की वस्तु बनाया है। यह सब होते हुए भी प्रायः दो ही प्रणालियाँ आदर्श खड़ा करने की होती हैं एक मानव के वीर पूजा के बद्धमूल भाव से, दूसरी सर्वांशतः पूर्णता की कल्पना सृष्टि से। इन सब में अनुकरण का स्पष्ट अथवा संकेतमय आदेश अवश्य होता है।......वीर पूजा के भाव से प्रेरित आदर्शवाद के विधान में या तो किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष का चरित्र केन्द्र बनेगा या कोई भी कल्पित पात्र अलौकिक, अद्भुत और प्रशंसनीय गुणों से युक्त चित्रित किया जायगा। इस वैज्ञानिक युग में यद्यपि अलौकिकता और अद्भुतता का रूप इतना अति-रेकमय नहीं हो सकता कि उसमें असम्भवता और जादू कैसे चमत्कार का प्रकाश हो अथवा ईश्वरत्व का आरोप हो फिर भी किसी एक गुण को पराकाष्ठा तक विकास में ले जाना उसे

अलौकिक और अद्भुत कर देता है......आदर्श और यथार्थ में साधारणतः प्राप्य और प्राप्त का ही अन्तर है। आदर्शवादी मनुष्य में अत्यन्त शक्ति की प्रतिष्ठा करता है, वह उस शक्ति में कभी कभी दैवी तत्व के दर्शन करता है। निश्चय ही आदर्शवादी व्यक्ति आशावादी होगा। वह सद्गुणों की परिणति में अच्छे और मीठे फल भी प्रस्तुत करेगा। आदर्शवादी का सारा उद्योग या तो वीर को अत्यन्त मोहक रंगों में उत्कृष्टतम रूप में चित्रित करना होता है या कल्पना द्वारा किसी सुखमय स्वर्ग की रचना का। आदर्शवादी का प्रधान साधन भावना लोक है। भाव जगत में वह एक मनोरमता के दर्शन करता है और उसे ही एकांकी का रूप दे सकता है[1]।"

आदर्शवादियों पर आक्षेप :—फलस्वरूप आदर्श वादी पर भाँति-भाँति के आरोप किये जाते हैं। उस पर प्रथम आक्षेप है कि वह कल्पना लोक का प्राणी है। जनता को उत्तेजित करने का उसके पास साधन है मिथ्या प्रलोभन। द्वितीय आक्षेप है कि वह पलायनवादी है। वह यथार्थ का सामना नहीं करता। मधुरिमा और कल्पना के रंग में ही डूबा रहता है। तृतीय आदर्श वादी लोकातीत और अमानवीय प्रलोभनों की शरण लेता है। चतुर्थ वह बुद्धिवाद पर नहीं ठहरता, मानव को भावुक प्राणी बना देता है। पंचम उसके सुलझाव अतीव दुःसाध्य जटिल और विकृत होते हैं। षष्ठ वह कला के साथ अत्याचार

१ हिन्दी एकांकी—पृष्ठ १५५

करता है। वह अपने निर्दिष्ट उद्देश्य के लिये उसे खोज कर काम में नियोजित करता है। वह असम्भाव्य, आकस्मिकता और अलौकिक रीति का आश्रय खोजता रहता है।

(२) यथार्थवादी आदर्श :—यथार्थवाद के अनुसार जो कुछ जैसा है, संसार में जो जिस भाँति वर्तमान है, उसे ठीक उसी रूप में व्यक्त करना चाहिये। इसके अन्तर्गत जड़वादी का भौतिकतावादी दृष्टिकोण है। इसमें निराशावादिता को प्राधान्य मिलेगा। यथार्थवादी को जगत के दुख और असफलताओं का ही आधिक्य प्रतीत होता है। उसकी दृष्टि में मानव दौर्बल्य की प्रतिमूर्ति हैं। 'सुहागविन्दी' में यथार्थवाद का अवसाद का पूर्ण चित्र दृष्टिगत होता है। अश्कको 'लक्ष्मी के स्वागत' भी ऐसी ही रचना है। पर यथार्थवाद का केवल एक यही रूप नहीं है। इसमें से निराशा का तत्व हटाकर भी एकांकी लिखे गए है।" इनमें नाटककार अपने मनोभाव को उपस्थित नहीं करता। वह चित्र को अपने दृष्टिकोण से नहीं देखता, निरपेक्षता के भाव से देखता है। "उदयशंकर भट्ट का दस हजार" इसी तरह का एकांकी है। यथार्थ वाद में हमें केवल वस्तु का यथार्थ मिलता है। उद्देश्य के यथार्थ के लिए उसमें कोई स्थान नहीं मिलता।

प्रगतिवाद :—यथार्थवाद में जब उद्देश्य के यथार्थ का समावेश हो जाता है तो उसे प्रगति की संज्ञा दी जाती है। कुछ

लोगों का मत है कि उसे प्रगतिवाद न कहकर आदर्शवाद कहा जाय। परन्तु यह उनकी भूल है। उद्देश्य का यथार्थ स्थापित करने के हेतु वैज्ञानिक अध्ययन और दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ती है। इस वैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप जो व्यवस्था की जाती है उसका आधार भावुकता नहीं होती है, उसे यथार्थ की ठोस नींव पर खड़ा किया जाता है। "प्रगतिवादी रचनाएँ समाज में व्याप्त सड़ाँयध एवं गर्हित और नग्न चित्र भी देंगी, उनके मौलिक कारणों की ओर इंगित करेंगी और उद्देश्य या लक्ष्य की ओर प्रेरित भी करेंगी।"

कलावाद :—प्रगतिवादी, आदर्शवादी और यथार्थवादी सभी उपयोगितावादी कला में विश्वास करते हैं। ये प्रमुख रूपेण सत्य एवं शिव के उपासक होते हैं। पर कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जो कला की उपयोगिता जीवन के लिए न मान कर कला के लिये ही मानते हैं। ये सौन्दर्य से प्रभावित हैं। वे कला को शुद्ध रूप में उपस्थित करने के पक्षपाती हैं। "पुष्प की सुन्दरता किसी उपयोग के लिए नहीं, आनन्द का शाश्वत तत्व इसी कला के सौन्दर्य और सङ्गीत से उद्भूत होता है। कला-वादी इसी ओर प्रवृत्त होता है। हिन्दी के एकांकियों में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने 'बादल' जैसे एकांकी में इसी 'वाद' की प्रेरणा दिखाई है। आगे उनमें आदर्श और यथार्थ का पुट भी मिलता है पर यह कलामय तत्व उनमें प्रधान रहा है। 'पृथ्वीराज की

आखें' और 'रेशमी टाई' में कलामय आदर्श का चित्रण है, और 'चारुमित्रा' में कलामय यथार्थ का। 'उत्सर्ग' में प्रेम की प्रतिहिंसा आदर्श नहीं मानी जा सकती। 'रजनी की रात में' समाज और स्त्री की यथार्थता प्रकट की गई है—वह भी आदर्श नहीं। 'अंधकार' में वासनामय प्रेम की याथर्थ विद्यमानता को ही कलामय रूप दिया गया है। 'चारुमित्रा' में आदर्श और यथार्थ का संघर्ष है।"

अभिव्यञ्जनावाद तथा प्रभाववाद :—अभिव्यंजनावाद कलावाद का ही एक शैलीगत पक्ष है। श्री सत्येंद्र के शब्दों में "जहाँ सौन्दर्य शब्द शैली और अर्थ में सन्तुलित न हो वरन् जिसमें अर्थ द्वारा अभिव्यक्त वस्तु में ही कला ने सौन्दर्य का दर्शन किया हो, वहाँ हम 'कलावाद' नाम दे सकते हैं। पर यदि वस्तु और अर्थगत सौन्दर्य के दर्शन से हटकर नाटककार अपने नाटकीय विधान के वैचित्र्य, वैलक्षण्य तथा चमत्कार में व्यस्त हो जाय और अर्थ से अधिक, वस्तुगत सौन्दर्य से अधिक विधान, शैली और रूप में ही 'सौंदर्य' प्रस्तुत करे तो उसमें हम अभिव्यंजनावाद ही पायेंगे।" इस दृष्टिकोण से डा० वर्मा का 'अंधकार' कलावाद से अधिक अभिव्यंजनावाद की वस्तु माना जायगा।

"प्रभाववाद साहित्य में एक दूसरे क्षेत्र से लाया गया है। इसका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कला "सौन्दर्य" अथवा अन्य

किसी उपयोग के लिए प्रयोग में नहीं लायी, गई है, जिसमें किसी 'अर्थ' की अभिव्यक्ति न हो, वरन् प्रभाव की हो । 'अर्थ' और 'प्रभाव' में बड़ा अन्तर है। अर्थ एक तारतम्य रखता है प्रभाव में कोई तारतम्य नहीं। प्रभाव तो एक ऐसे रूप निर्माण में है जो प्रबल और विचित्र रूप से अपनी ओर आकृष्ट करे और आपको रोक ले; जिसके तत्वों के सम्बन्ध में आप आवश्यक अनावश्यक अथवा किसी बोधगम्यता का विचार ही न आने दें। आकाश में बादल विविध रूप भरते हैं, जिनके रूपों में न कोई अर्थ होता है और न कोई अन्य बोध तत्व को सन्तुष्ट करने वाली कड़ी पर आकाश में उनके चित्रों में प्रबलता होती है । उनका सौन्दर्य केवल उनके प्रभाव में निहित है। प्रभाववाद का अर्थ रहस्यवाद नहीं है । प्रभाववादी कला के तन्तु प्रतीक नहीं होते, न वे जो प्रकट है उसके अतिरिक्त स्वतः उनके परे की कोई सूचना देते हैं, वे किसी रहस्य में परिणत नहीं होते हैं।... ..श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'सुहाग बिन्दी' के अन्त में अस्थि खंडों से बिल्ली का आकर क्रीड़ा करने लग जाना इस प्रभाववादी कला का ही परिणाम माना जायगा। भुवनेश्वर के 'ऊसर' में भी कुत्ते और बच्चे के द्वारा इसकी झलक दिखाई जाती है।

—:o:—

एकांकी का आरम्भ एवं अन्त

एकांकी लेखकों को उसके आरम्भ और अन्त का विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है। एकांकी का आरम्भ पाठकों को आकर्षित करके उनका ध्यान अपनी कथावस्तु में नियोजित करता है और कहानी का अन्त अत्यन्त प्रभावशाली होना चाहिये अन्यथा फिर नाटक की सफलता संदिग्ध हो जाती है। एकांकी नाटक की कथावस्तु एक घुड़दौड़ के समान है जिसमें उसका प्रारम्भ और अन्त ही विशेष ध्यान देने योग्य है। एक बार कथावस्तु प्रारम्भ नहीं होने पाई कि तीव्र गति से वह अन्त की ओर बढ़ती चली जाती है। कथावस्तु के इस वेग पूर्ण प्रवाह में पाठकों वा दर्शकों को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले दो ही तत्व हैं और वे हैं—आरम्भ और अन्त।

आरम्भ :—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि एकांकी नाटक केवल कुछ ही मिनटों का प्रदर्शन होता है, अतएव एकांकीकार के लिये ध्यान रखने के उपयुक्त सर्वप्रथम बात यह है कि 'आरम्भ' अत्यन्त छोटा हो। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि पर्दा के उठते ही पात्र कथावस्तु पर टूट पड़े।[1] मुख्य

---

1. Technique, Sydney Fox

कथावस्तु से सम्बंधित वा भिन्न घटना अथवा विषय को ग्रहण कर नाटक का प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् पात्रों के परिचय की संक्षिप्त झलक मिल जाने पर मुख्य कथा की गति प्रारम्भ होनी चाहिए। हिन्दी में प्रायः सभी एकांकी इसी प्रकार लिखे गए हैं। डा० रामकुमार वर्मा का 'रूप की बीमारी', 'परीक्षा', 'चारुमित्रा', भुवनेश्वर का 'ऊसर' भगवती चरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' जैनेद्र का 'टकराहट' एकांकी में मुख्य कथावस्तु प्रारम्भ होने से पूर्व कुछ ऐसे सम्भाषण हैं जो हमें पात्रों का परिचय भी दे देते हैं और साथ ही मुख्य कथावस्तु का पूर्वाभास भी।

(२) आरम्भ के सम्बन्ध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि एकांकी का आरम्भ स्तवन अथवा नन्दी पाठ के साथ न होना चाहिये। संस्कृत के एकांकी और बड़े नाटकों का प्रारम्भ इसी प्रकार होता आया है। पर आज एकांकी रचना के अनेक लक्ष्यों में से समयाभाव की भावना भी है। अतः 'स्तवन' अथवा नन्दी पाठ आदि में व्यर्थ ही समय न नष्ट कर नाटक का प्रारम्भ शीघ्र ही कर देना चाहिए।

(३) तीसरे, आरम्भ में पात्रों का वार्तालाप अत्यन्त आकर्षक और हृदयग्राही हो। 'चारुमित्रा' में यह गुण भरा सा है।

(४) नाटककार को आरम्भ का दृश्य ऐसा रखना चाहिए कि पाठक अथवा दर्शकों का ध्यान शीघ्र ही उसकी ओर आकर्षित

हो जाय। उपेन्द्र नाथ अश्क के नाटक 'अधिकार का रक्षक', भुवनेश्वर के 'ऊसर', डा० रामकुमार वर्मा के 'दस मिनट' तथा 'चारुमित्रा' में पाठकों का ध्यान अविलम्ब ही नाटक की वस्तु की ओर हो जाता है।

(५) एकांकी नाटक का यह सर्वोपरिगुण है कि पहला दृश्य ही पाठक या दर्शकों को आकर्षित कर ले। पाश्चात्य एकांकी आलोचक श्री सिडनी फाक्स ने इस बात पर बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है कि "ज्योंही परदा उठे त्योंही दर्शक का ध्यान नाटककार के विचार विनिर्मित संसार में स्वतः आ जाय [1]"

(६) नाटक के प्रारम्भ के बाद नाटककार को कथावस्तु के अनुकूल वातावरण निर्माण में अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिए।

अन्त:—प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् कथावस्तु द्रुतगति से अन्त की ओर दौड़ती है। उसमें पहाड़ी नाले के समान गति का समावेश हो जाता है। उस गति में संचारी भाव की भाँति कभी कभी लेखक पात्रों के हृदय में किसी विशेष घटना या

---

1 It means simply that the moment the curtain is up the audience must be brought into the world of author's imagination.

Technique—by Sydney Fox

पात्र के विषय में स्मृति जाग्रति कर देता है। इससे कथावस्तु में और स्पष्टता आ जाती है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'पृथ्वीराज की आँखें' एकांकी में उसी स्मृति के द्वारा पाठकों या दर्शकों को महाराज पृथ्वीराज के विगत ऐश्वर्य का परिचय कराया है। उसी प्रकार 'सुहागबिन्दी' में द्विवेदी जी ने 'महाराज' द्वारा प्रतिभा विषयक स्मृतियों से कथा वस्तु को अधिक स्पष्ट बनाया है।

एकांकी के अन्त के विषय में लेखकों को निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिए :—

(१) एकांकी का अन्त प्रभावशाली होना चाहिए और अन्तिम दृश्य का दर्शकों पर पूर्ण प्रभाव पड़े।

(२) दर्शकों को एकांकी के अन्त से नाटक रचना के लक्ष्य या प्रेरणा का तुरन्त ही ज्ञान हो जाय।

(३) नाटक का अन्त रहस्यमय न हो। स्पष्ट अन्त का प्रभाव दर्शकों पर अधिक पड़ता है। रहस्यमय अन्त वाले नाटकों के समाप्त होते ही दर्शकों के लिए बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। वे समझ नहीं पाते कि नाटककार का लक्ष्य क्या है। या नाटक के अन्त से निष्कर्ष क्या निकला। भुवनेश्वर के नाटकों का अन्त कुछ इसी प्रकार का होता है। उसकी समस्या पाठकों के लिए एक पहेली बन जाती है। जैनेन्द्र के किसी-किसी एकांकी में भी यही प्रवृत्ति उपलब्ध होती है।

—:o:—

हिन्दी के आधुनिक माध्यम

एकांकी

नवयुग की किरण ने जीवन के जिस शत दल को मुकुलित किया है उसमें एक पंखुड़ी एकांकी नाटक की भी है। मेरी सम्मति में साहित्य के आधुनिक माध्यमों में सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम एकांकी नाटक का ही है। यह बात दूसरी है कि उसके प्रयोग में अभी उतनी शक्ति न आ पाई हो जितनी शक्ति साहित्य के अन्य माध्यमों में आ गई है। इसे स्पष्ट करने के लिये हमें अन्य माध्यमों के संबंध में थोड़ी-बहुत चर्चा कर लेनी चाहिये।

साहित्य के अन्य माध्यमों में कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, चित्रपट, निबन्ध, समालोचना, जीवनी, आत्म-कथा, संस्मरण और यात्रा-विवरण हैं। कविता में भावना और कल्पना के योग से जीवन के परिष्कार (Sublimation) की ओर अधिक ध्यान दिया है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्राचीन इतिवृत्तों को उभारने की चेष्टा उसके द्वारा अधिक हुई है। कविता का प्रयोग आधुनिक समस्याओं के माध्यम के रूप में कम हुआ है, यदि हुआ भी है तो उसके कलात्मक रूप की रक्षा नहीं हो

सकी। ऐसे अवसरों पर कविता सिद्धान्तों की लकीर बन कर रह गई है। यदि उसके द्वारा किसी अभाव की ओर संकेत हुआ है अथवा किसी समस्या के हल करने की चेष्टा की गई है तो उसका संतुलन बिगड़ गया है और वह मुक्त वृत्त में फूट निकली है। वह आक्रोश पूर्ण व्याख्यान का रूप बन गई है और उसका 'शिवत्व' 'रुद्रत्व' में परिणत हो गया है। 'कीरति भणित भूत भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' की भावना नहीं रह गई। अतः कविता के आधुनिक माध्यम ने अधिकतर आत्म-परिष्कार और अतीत की गौरव-गाथा का रूप ही लिया है।

उपन्यास सबसे अधिक सफल माध्यम हो गया है। प्रेमचन्द के युग तक उपन्यास ने प्रायः वही काम किया है जो आज भी काव्य कर रहा है। अन्तर केवल यही है कि काव्य ने आध्यात्मिक पक्ष ग्रहण किया और उपन्यास ने सामाजिक पक्ष। "गोदान" का होरी क्रान्ति का अग्रदूत तो बना किन्तु उसमें गाँधीवाद की कष्ट-सहिष्णुता और अहिंसा बनी रही। प्रेमचन्द के बाद यशपाल, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अश्क और भारती ने उपन्यास के माध्यम से आधुनिक समस्याओं के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर गिरती दीवारों को देखा और गुनाहों के देवता की पूजा की। उन्होंने वस्तुवाद की ठोस भूमि पर पैर रखा। लेकिन अंदेशा यही है कि वे अपनी शक्ति में डगमगा न जायँ और सुरुचि का रास्ता न छोड़ दें। जैनेन्द्र की सुनीता से यशपाल के

'दादा कामरेड' ने एक कदम आगे रखा और अब सर्वदानन्द के नये उपन्यास 'अनागत' में रानी 'दादा कामरेड' से एक कदम और आगे रखना चाहती हैं। यह वस्तुवाद और वासना की समस्या का हल कहीं ऐसी सीमा पर न हो जाय जिसके आगे कोई राह न मिले। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कृष्ण-चन्द्र, यशपाल और वृन्दावन लाल वर्मा की कहानियों ने हमारे हृदय पर चोट की है और हमें वस्तु-स्थिति के प्रति जागरूक बनाया है।

सम्पूर्ण नाटक हमारे आधुनिक साहित्य का सफल माध्यम नहीं बन सका है। एक तो रंगमंच के अभाव ने और दूसरे चित्रपट की सस्ती लोक-प्रियता ने पूरे नाटक को पनपने नहीं दिया। जो नाटक लिखे भी गये वे या तो पौराणिक इतिवृत्त पर लिखे गये या ऐतिहासिक चरित्र या घटना पर। नाटकों में आधुनिक समस्या नहीं के बराबर है। चित्रपट तो व्यावसायिक संस्था होने के कारण साहित्य का माध्यम बन ही नहीं सका। उसमें प्रेमचन्द्र का सेवा-सदन 'बाजारे-हुस्न' बन कर रह गया। भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा, अवश्य सफल चित्रपट बना किन्तु मूल उपन्यास से उसकी कथावस्तु में यथेष्ट परिवर्तन किया गया। जन-रुचि को संतुष्ट करने के लिये उसमें बहुत से नये अंश डाल दिये गये। चित्रपट निर्माताओं ने साहित्यिकों से आज तक सहयोग नहीं किया अथवा साहित्यिक अपना आत्म-सम्मान रखते हुए उनसे सहयोग नहीं कर सके। चित्रपट

निर्माताओं ने हमारे साहित्यकारों से केवल "मुंशीजी" या "पंडित जी" का काम कराया है। संवाद और गीत मात्र लिखवाये हैं। प्रतिष्ठित साहित्यकारों के उपन्यासों और नाटकों के कथानकों के लिये उन्होंने कभी अपना आग्रह नहीं दिखलाया। अतः अभी तक चित्रपट हमारे साहित्य के सफल माध्यम नहीं बन सके।

निबन्ध और आलोचना आज के अच्छे माध्यम हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय और प्रभाकर माचवे आलोचना और निबन्ध में आज के बौद्धिक युग की चेतना के प्रतीक हैं। यद्यपि निबन्ध लेखन में अभीष्ट समृद्धि प्राप्त नहीं हुई। निबन्ध में चिन्तन पक्ष और निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। जब तक लेखकों में इन दो तत्वों का विकास न होगा तब तक निबन्ध बहुत उन्नति प्राप्त न कर सकेगा। निबन्ध तो क्यारी की भाँति सजाया जाना चाहिये, हमारे अनेक साहित्यकार उसे अभी तक 'लॉन ही' बनाए हुए हैं। जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण और यात्रा-विवरण अभी तक हमारे साहित्य के गौण माध्यम बने हुए हैं। मनोरंजन के साथ साथ उनमें जीवन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की अपार शक्ति है किन्तु उनकी सरलता ही सम्भवतः उनकी सबसे बड़ी कठिनता है। हिन्दी के इन माध्यमों में विशिष्ट कृतियाँ कभी कभी दृष्टिगोचर हो जाया करती हैं, सदैव नहीं।

इन समस्त माध्यमों में एकांकी नाटक सबसे अधिक शक्ति

शाली माध्यम है जैसा मैं पहले आपसे निवेदन कर चुका हूँ। यद्यपि इसका इतिहास केवल पिछले पच्चीस वर्षों का ही है तथापि इस अवधि में इसने साहित्य में जो आवश्यक और अनिवार्य स्थान बना लिया है वह इसकी शक्ति का पूर्ण द्योतक है। रंगमंच की अनुपस्थिति ने अथवा चित्रपट की सस्ती लोकप्रियता ने एकांकी के विधान और उसकी आकर्षण शक्ति को आत्मसात् करने में अपने को असमर्थ पाया है। अतः एकांकी अपने नये विधान (Technique) को लेकर अपने संपूर्ण आकर्षण के साथ हिन्दी में अवतरित हुआ है। रंगमंच की उलझनों से दूर रहते हुए भी दृश्य के आकर्षण की विशेषता इसमें सुरक्षित है। आज के व्यस्त जीवन के बीच इसने कम से कम समय में अधिक से अधिक अनुरंजन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया है। साथ ही आज के जीवन में जो अनेक समस्याएँ एक ही स्थान पर गिरे हुए पतंग के डोरे की भाँति उलझी हुई हैं उन्हें गहरी दृष्टि से देखकर सतर्क उँगलियों से सुलझाने की कुशलता भी एकांकी नाटक में है। यह एकांकी जीवन के मध्यान्ह का सूर्य नहीं है जिसकी किरणें देखी नहीं जा सकतीं। वह तो प्रभातकालीन बाला रवि है जिसकी किरणें घटनाओं के बादलों में से निकल कर उन्हें वसंत कालीन फूलों की भाँति रंगती हैं और अलग अलग दिखलाई देकर जीवन के आकाश में समा जाती हैं। हमारे मन में घटनाएँ और समस्याएँ समष्टि रूप में आती हैं। उनकी रूपरेखाएँ आपस में ऐसी

मिली रहती हैं जैसे ज्यामिति में वर्ग के भीतर वृत्त और वृत्त के भीतर त्रिकोण समाये रहते हैं। घटनाओं और समस्याओं के पारस्परिक अन्तर्व्यापी नैकट्य को दूर दूर कर जीवन की पृष्ठ-भूमि पर प्रत्येक घटना और समस्या का स्वाभाविक उभार प्रस्तुत करना एकांकी का ही कौशल है। इस भाँति मंच का सरलीकृत आकर्षण, कम समय में अधिक से अधिक अनुरंजन, घटना और पात्रों की हृदयस्पर्शिनी क्रिया और प्रतिक्रिया और घटना और पात्र की मनोभूमि पर खड़े होकर हिमश्रृंग की भाँति जीवन की ऊँचाई देखने का नेत्रोत्तालन एकांकी में ही है। कहानी भी ऐसी ही विशेषता रखती है किन्तु कहानी लज्जाशीला नारी की भाँति मंच पर आने का साहस नहीं करती। वह पाठकों के मनोमंच पर ही अवगुंठन डाले हुए अपने पैर के नाखूनों से जीवन की भाव-भूमि कुरेदती रहती है। एकांकी की कला भारतेन्दु की नीलदेवी के समान जीवन की समस्याएँ सुलझाती है और अब्दुरशरीफ़ खाँ सूर जो सूर्यदेव को मारकर अंधकार के समान मद्यपान किये बैठा है और नायिका के रूप में नीलदेवी को अपने हाथ से शराब पिलाने की चेष्टा करता हुआ "लो जान साहब" कहता है, उसे कटार निकाल कर मारती है। मंच पर जीवन को क्रिया-शील बनाने की अद्भुत शक्ति एकांकी में है जो युगों की टीस दो आँसुओं में और युगों का विनोद एक मुस्कान में प्रकट कर आपके सामने जीवन का रहस्य प्रदर्शिनी की भाँति सुसज्जित कर देता है।

एकांकी की कला के संबंध में भी दो शब्द कहना चाहता हूँ। एकांकी की कला का अस्तित्व वैसा ही स्वतंत्र और संपूर्ण है जैसा आपका व्यक्तित्व या मेरा। प्राचीन दशरूपकों के अंतर्गत वीथी, अंक और भाण जैसे रूपकों ने एक अंक का आश्रय लेकर घटना वस्तु को संक्षिप्त तो अवश्य कर दिया था तथापि उसमें वर्णनात्मकता प्रधान हो गई थी। विनोद आदि के लिये भारतीय वृत्ति का आश्रय लेकर उसमें घटना या पात्र का विहंगावलोकन ही अधिक होता था। रस-निष्पत्ति के लिये उपकरण खोजे जाते थे, और या तो संगीत के द्वारा या अस्वाभाविक रूप से पात्र का हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना आदि दिखलाकर वातावरण की सृष्टि की जाती थी। इन रूपकों का उद्देश्य नीति या आदर्श को लेकर चलना था। आज का एकांकी नाटक इस मान्यता को सामने रख कर नहीं चलता। वह तो जीवन की रेखाओं में रंग भर कर घटना या पात्रों के माध्यम से एक विशिष्ट संवेदना पर उँगली रखना चाहता है। यह संवेदना चाहे इतिहास की हो, राष्ट्र की हो, धर्म की हो, समाज की हो या परिवार की हो। जीवन के साधारण से साधारण धरातल पर उतर कर वह सत्य को छेड़ देती है और जीवन के विस्तृत आकाश में विद्युत बन कर समा जाती है। सत्य के तार पर वह उँगली की एक चोट है जिससे जीवन का संगीत गूंजता है और तार की पतली रेखा से निकल कर समस्त दिशाओं को मुखरित कर देता है। कुशलता यही है कि जीवन की एक ऐसी घटना ही चुनी जाय

जो फोड़े की तरह कसकती हो या जो लाज भरे सौन्दर्य के विहँसते हुए कपोल-कूप की गहराई लिये हो। मानस में "तेजवंत लघु गनिय न रानी" के उदाहरण में जो कुछ महाकवि तुलसीदास ने कहा है, वही मैं एकांकी नाटक के संबंध में कह सकता हूँ:

"मंत्र परमलघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व"

या

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥

एकांकी को काम का कुसुम-धनु ही कहना चाहिये जिसके उचित प्रयोग से समस्त विश्व की समस्याएँ वश में की जा सकती हैं।

एकांकी की कथा वस्तु एक तीव्र अनुभूति है। यह कबीर द्वारा इंगित घूँघट का पट है जिसके खोलने पर राम मिल जाते हैं। यह तीव्र अनुभूति सत्य के यथार्थ या आदर्श को उसी प्रकार छिपाये रहती है जैसे हँसी या आँसू जीवन के सुख या दुःख के समस्त संसार को अपने में लीन किये रहते हैं। यह अनुभूति घटना या पात्रों द्वारा ही प्रकट की जाती है। घटना से अधिक शक्तिशाली पात्र है। घटना तो मरुस्थल की भाँति स्थिर (Static) रहती है किन्तु पात्र निर्झर की भाँति ठोकर खाते हुए भी आगे बढ़ता जाता है। वह गतिशील (Dynamic) है। उसमें स्वभावानुसार क्रिया और प्रतिक्रिया होती है जिसमें मनोविज्ञान के भीतर से जीवन की किरणें झाँकने लगती हैं। संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व में वह आपकी अनुभूतियों के द्वारा अप

को साकार करने लगता है और आगे चल कर वह दधीच की हड्डियों से बना हुआ वज्र हो जाता है जिसकी चोट अचूक होती है। इसीलिये एकांकी में पात्र ही महारथी होता है। घटनाएँ रथ बन कर समस्या-सग्राम में उसे गति प्रदान करती हैं। मेरी दृष्टि में पात्र प्रधान एकांकी-कला की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हुआ करते हैं।

और संभाषण? वे एकांकी की संवेदना और गति निर्धारित करते हैं। उनके द्वारा एकांकी के पात्रों के स्वभाव और आवेगों का स्पष्टीकरण होता है। पात्र और उनसे संबद्ध घटनाओं की अभिव्यक्ति परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त ढंग से ही होनी चाहिये। कथोपकथन उतने ही हों जितने पात्रों की क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा अपेक्षित हों जैसे हमारी साँस का आना और जाना नियमित है। मन के भावों के अनुसार साँस की गति में परिवर्तन होता है। निराश होने पर हम ठंडी साँस लेते हैं और क्रोध आने पर हम गरम साँसें लेते या छोड़ते हैं। उसी प्रकार हृदय के भावों के अनुसार कथोपकथन का अनुपात भी होना चाहिये। केवल मनोरंजन के लिये या नाटककार द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन के लिये कथोपकथन का विस्तार करना पात्रों के कंठों से उनकी स्वाभाविक ध्वनि छीन लेना है। फिर तो नाटक में पात्र नहीं बोलते नाटककार पात्रों के कंठ में कोयल या कौवा बन कर बोलने लगता है।

एकांकी में चरम सीमा का विशेष महत्व है। तथ्य का निरूपण चरम सीमा में ही जाकर होता है और तथ्य का निरूपण हो चुकने के बाद कथावस्तु को आगे खींचना वैसा ही है जैसा सिनेमा देखकर जाड़े में पैदल घर लौटना। सत्यदर्शन के बाद उसकी व्याख्या करना हमारी अनुभूति को ठेस पहुँचाता है। अतः श्रेष्ठ एकांकी चरम सीमा में ही समाप्त हो जाते हैं। उनमें 'भरत वाक्य' की अपेक्षा नहीं होती।

यदि महत्व की दृष्टि से देखा जावे तो एकांकी में प्रथम स्थान पात्र और उसके मनोविज्ञान का है, दूसरा स्थान संभाषण या कथोपकथन का, तीसरा स्थान चरम सीमा या क्लाइमेक्स का, चौथा स्थान घटना का है। यद्यपि इन चारों की महत्ता शरीर के विविध अंगों की महत्ता के अनुरूप अनिवार्य है। उनका विस्तार कम या अधिक उचित अनुपात में हो सकता है। मनोविज्ञान में प्रतिष्ठित पात्र चरम सीमा में अपनी गति स्वयं निर्धारित कर लेता है, वह गति चाहे आदर्श में हो या यथार्थ में। नाटककार तो लाखों दर्शकों के बीच एक दर्शक मात्र बनने का अधिकारी है।

प्रसाद जी का 'एक घूँट' एकांकी तो अवश्य है लेकिन वह आधुनिक एकांकी के विधान से निर्मित नहीं है। वह संस्कृत के दशरूपकों में 'अंक' का एक परिष्कृत और आधुनिक रूपान्तर मात्र है। उसमें रसोद्रकता के लिए संगीत की व्यवस्था भी है। ३८ पृष्ठ के इस एकांकी में "खोल तू अब भी आँखें खोल," "जीवन

वन की उजियाली में", "जलधर की माला", "मधुर मिलन कुंज में" इन चार गीतों के अवसर लाए गए हैं। उसमें चंदुला नाम का एक प्राचीन कालीन विदूषक भी है और "स्वगत कथन" और अलग कहने (aside) की मान्यता भी।

इस प्रकार "एक घूंट" आधुनिक एकांकी की कला से काफी दूर तक हटा हुआ है। आज के आधुनिक एकांकी लेखकों में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, भुवनेश्वर, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर और देवेन्द्रनाथ शर्मा प्रमुख हैं। गोविन्ददास अपने नाटक ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखते हैं। भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा में वे अपने पात्रों को कभी-कभी अधिक मुखर और क्रियाशील बना देते हैं और "शिवत्व" उनके कथानकों में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अपने कथानक अधिकतर समाज की बिगड़ी हुई परिस्थिति से लेते हैं और उसे या तो और भी बिगाड़ कर पाठकों या दर्शकों के हृदय पर चोट करते हैं या सुधार कर हमारी भूल की हँसी उड़ाते हैं। व्यंग्य इनका प्रमुख अस्त्र है। उदयशंकर भट्ट प्राचीन इतिवृत्तों में स्वाभाविकता लाने वाले और जीवन के यथार्थ में निहित संवेदना को उभारने वाले कुशल कलाकार हैं। नारी मनोविज्ञान में इनकी विशेष गति है और करुणा इनकी संपत्ति है। विष्णु प्रभाकर जीवन के विविध चित्रों के सफल चित्रकार हैं। राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के निरूपण में इन्हें विशेष

सफलता मिली है। गणेशप्रसाद द्विवेदी सामाजिक परिस्थितियों के परिष्कार में विश्वास रखते थे। विनोद, परिहास और कुतूहल इनके अस्त्र थे। भुवनेश्वर समस्या प्रधान विषयों के ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने सम्पूर्ण रूप से पश्चिमी कला विधान को ही अपनाया है। इन्होंने स्वाभाविकता को अपने नाटकों में अधिक स्थान दिया है। हरिकृष्ण प्रेमी अधिकतर इतिहास से ही अपने कथानकों का निर्माण करते हैं। राष्ट्रीयता इनके कथानकों में स्थान स्थान पर परिलक्षित होती है। जगदीशचन्द्र माथुर प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार के इतिवृत्तों को उपस्थित करने में कुशल हैं। संवाद की स्वाभाविकता इनका विशेष गुण है। देवेन्द्रनाथ शर्मा ने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक इतिवृत्त ही स्वीकार किए हैं। मनोविज्ञान का चित्रण इनकी विशेष शैली है।

इन नाटककारों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, सत्येन्द्र, चन्द्किशोर जैन, रामचन्द्र श्रीवास्तव, कमला कान्त वर्मा, गोविन्द वल्लभ पन्त, सुदर्शन, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' सत्येन्द्र शरत् और लक्ष्मीनारायण लाल भी सफल एकांकी के शिल्पी हैं। इन लेखकों की प्रतिभा ने हिन्दी एकांकी को अपने विकास-पथ पर आगे बढ़ाया है।

साहित्य के माध्यम के रूप में एकांकी की शक्ति असंदिग्ध है। हमारे जीवन की अभिव्यक्ति आज तीन प्रकार से होने जा रही है। प्रथम हमारी संस्कृति की व्याख्या, द्वितीय इतिहास

और राष्ट्रीयता के प्रति आस्था और तृतीय जीवन की दैनिक समस्याओं का हल। संस्कृति की व्याख्या में प्राचीन महाकवियों के काव्य और नाटक तथा उनसे सम्बन्धित प्रसंग नये नये ढंग से एकांकी के रूप में लिखे जा रहे हैं। ऐतिहासिक और राष्ट्रीय विषयों ने हिन्दी में सबसे अधिक एकांकी नाटकों का निर्माण कराया है और दैनिक समस्याओं का हल आधुनिक मनोविज्ञान में अपना स्वरूप देख रहा है। रेडियो ने एकांकी नाटकों को निखारने में बड़ा योग दिया है यद्यपि उसकी कला साहित्यिक एकांकियों की कला से भिन्न है। आज रेडियो एकांकी नाटक के विविध रूपों का सबसे बड़ा सहायक है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब हमें शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में जो सुविधाएँ मिलेंगी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं से हमारा जो सहयोग होगा उससे आशा है कि रंग मंच का निर्माण हो और उसके द्वारा एकांकी कला में नये नये प्रयोग हों।

मेरा तो ऐसा मत है कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान में एकांकी की कला सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। उसे अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न आधुनिक एकांकी नाटक के शिल्पियों को करना चाहिए।

—:०:—

भोर का तारा

(श्री जगदीशचन्द्र माथुर)

यद्यपि इन्होंने अधिक नाटकों की रचना नहीं की तथापि अपने इने गिने नाटकों में इन्होंने घटनाओं की जो संसृष्टि की है वह जीवन के सत्य को उभारने में अत्यंत मर्मस्पर्शिनी हो गई है। इन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक कथानकों में समानता से सफलता प्राप्त की है। जीवन में संयम और नियमन के ये विशेष समर्थक हैं और इस प्रकार इनके नाटकों में जीवन के वस्तुवाद की तीखी आलोचना है। इनके नाटकों में अधिकतर गंभीर वातावरण रहता है और ये पात्रों को अत्यंत संयत ढंग से घटनाओं में प्रवेश कराते हैं। फलस्वरूप इनका कथोपकथन भी अधिक मर्यादित और संक्षिप्त होता है। अपनी कला को ये दुःखान्त नाटकों में अधिक सफलता से निखार सकते हैं, सुखान्त नाटकों में नहीं। इनमें नाटकीय कला के प्रायः सभी गुण हैं। यदि ये नाटकों की रचना में अधिक प्रयत्नशील हों तो इनके नाटक अपनी विशेषता के कारण यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर सकेंगे।

समय—सन् ४५५ ई० के आस-पास।

स्थान—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त-साम्राज्य में एक राज्य-कर्मचारी (शेखर का मित्र)।

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

भोर का तारा

(१)

(कवि शेखर का गृह । सब वस्तुएँ अस्त-व्यस्त । बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है । उस पर एक चौकी भी रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी । इधर-उधर भोजपत्र (या कागज) बिखरे हुए पड़े हैं । एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं । पीछे की ओर खिड़की है । बायाँ दरवाजा अन्दर जाने के लिए है, और दायाँ बाहर से आने के लिए । दीवारों में कई आले या ताख हैं, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएँ रक्खी हैं । शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी कभी तख्त पर बैठ जाता है । जान पड़ता है, वह संलग्न है । तल्लीन मुद्रा । जो कुछ वह कहता है, उसे लिखता भी जाता है)

"अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार"
खींचते नीले पट का छोर···*(दुबारा कहता है, फिर लिखता है)*
टँगा जिसमें जाने किस ओर···

स्वर्ण-कण······स्वर्ण-कण··· ···*(पूरा रने के प्रयास करने में तल्लीन है । इतने में बाहर से माधव का प्रवेश । सांसारिक अनुभव*

और जानकारी उसके चेहरे से प्रकट हैं। द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद—)

माधव—शेखर !

शेखर—(*अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिख कर*) **स्वर्ण-कण प्रिय को रहा निहार !**

मा०—शेखर !

शे०—(*चौंककर*) **कौन ? ओह ! माधव !** (*उठकर माधव की ओर बढ़ता है*)

मा०—क्या कर रहे हो शेखर ?

शे०—यहाँ आओ माधव, यहाँ। (*उसके कंधों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ*) **यहाँ बैठो।** (*स्वयं खड़ा है*) **माधव तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?**

मा०—(*मुसकराते हुए*) **हाँ ! क्यों ?**

शे०—(*बड़ी गम्भीरतापूर्वक*) **कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो ?...नहीं जानते !** (*तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ*) **बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टँके थे। ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली।** (*रुककर*) **फिर क्या हुआ ?**

मा०—(*कुछ उद्योग के बाद*) **प्रभात अकेला रह गया ?**

शे०—नहीं, उसने अपनी अँगुलियाँ पसार कर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न? उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है।······क्यों?

मा०—बहुत ऊँची कल्पना है। लिख चुके क्या?

शे०—अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गये—

मा०—(*हँसते हुए*) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (*रुककर*) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर?

शे०—(*भोलेपन से*) क्यों?

मा०—तुम्हारी परियों और तारों की दुनियाँ में मैं मनुष्यों की दुनियाँ लेकर आ गया।

शे०—(*सच्चेपन से*) कभी कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

मा०—मुझमें?·········(*जोर से हँसकर*) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो?···(*गम्भीर होते हुए*) शेखर, कविता तो कोमल हृदयों की चीज है। मुझ जैसे काम काजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने भर से मुरझा जायगी। हम लोगों के लिये तो दुनियाँ की और ही उलझनें बहुत हैं।

शे०—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकालने का मार्ग भी हो सकता है?

मा०—और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शे०—यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी, गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल...

मा०—कवि !···(*अवहेलनापूर्वक*) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो ? तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जानते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्तव्य है।

शे०—(*भावुकता से*) मुझे तो सौन्दर्य ही कर्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौंदर्य दीख पड़ता है, वहाँ कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है। (*स्वर बदलकर*) माधव ! तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमंगी को कभी देखा है ?

मा०—(*मुसकराहट रोकते हुए*) हाँ।

शे०—मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों ?

मा०—क्यों ! (*कुछ सोचने के बाद*) दया सज्जन का भूषण है।

शे०—दया ? हुँ ! (*ठहरकर*) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला झलक

पड़ती है। उसका गहरा झुर्रियोंदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (*एक तरफ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो*) उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढला हो।

मा०— *इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए*) शेखर, टाट में रेशम का पैबन्द क्यों लगाते हो? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शे०—(*सरल भाव से*) किस देवी की?

मा०—(*अर्थपूर्ण स्वर में*) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शे०—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को।

मा०—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर? (*हँस पड़ता है। शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है*)...पागल!... (*गम्भीर होकर बैठते हुए*) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो?

शे०—कितनी बार पूछोगे?—(*मंद, गहरे स्वर में*)....

मा०—बहुत प्यार करते हो?

शे०—माधव जीवन में मेरी दो ही साधनाएँ हैं (*तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ*)—छाया का प्यार और कविता। (*खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है*)

मा०—और छाया ?

शे०—हम दोनों नदी के किनारे हैं, जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

मा०—(*उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए*) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शे०—नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है।

मा०—क्यों ?

शे०—तुम पूछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मंत्री हैं। भला, एक मंत्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

मा०—मामूली कवि ! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शे०—और क्या समझूँ ? राजकवि ?

मा०—सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूँ।

शे०—खबर ?

मा०—हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शे०—इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

मा०—नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुये, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये।

शे०—(*उकताकर*) आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

मा०—इसलिये कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था शेखर ?

शे०—(*चौंककर*) क्या ?

मा०—अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइये। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शे०—मैं ?

मा०—(*अभिनय-सा करते हुए, झुककर*) श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शे०—मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

मा०—सपने तो तुम देखा करते हो। लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शे०—हाँ वह युवती कौन है ?

मा०—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शे०—ओह ! छाया ! ...(*माधव का हाथ पकड़ते हुए*)... तुम कितने अच्छे हो !

मा०—और सुनो।...सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ। आज देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मन्त्री बनकर। समझे?

शे०—(*स्वप्न-से में*) तो क्या सच ही छाया ने कहा? सच ही?

मा०—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्ष-शिला चल देंगे।...उसके बाद—उसके बाद छाया कहाँ रहेगी? भला, बताओ तो?

शे०—माधव!...(*माधव हँस पड़ता है*) इतना भाग्य? इतना...विश्वास नहीं होता।

मा०—न करो विश्वास!...लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी? ये बिखरे हुए कागज, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है।

शे०—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ।

मा०—और फिर?

शे०—मैं परवाह करता हूँ फूल की पँखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (*भावोद्रेक से*) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की।

मा०—एक चीज रह गई।

शे०—क्या?

मा०—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो। (*उठकर दूर खड़ा हो जाता है।*)

शे०—वृक्षों के नीचे ?

मा०—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो ।

शे०—दर्पण में ?

मा०—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। *(निकट आ गया है)*

शे०—*(समझकर, बच्चों की तरह)* छाया !

मा०—*(मुसकराते हुए)* छाया !

(पर्दा गिरता है)

(२)

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान भी हैं। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रक्खे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण, एक अँगीठी रक्खी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलँगनी है, जिस पर कुछ धोतियाँ इत्यादि टँगी हैं।

छाया, सौंदर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है, गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर

वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज नहीं सुनाई देती।

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान;

पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान;

सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;

तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण।

प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुसकराते हुए छाया का गीत सुनता है।)

शे०—*(थोड़ी देर बाद, धीरे से)* छाया! *(छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है। फिर कुछ समय बाद)* छाया !!

छा०—*(चौंककर खड़ी हो जाती है। मुख फेरकर)* ओह !

शे०—*(तख्त की ओर बढ़ता हुआ)* छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छा०—*(उत्सुकतापूर्वक)* कौन सी ?

शे०—*(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रन्थ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए)* एक बहुत सुन्दर-सी।

छा०—सुनें, कैसी कहानी है ?

शे०—*(बैठकर)* एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे। राजा तो उस पर निछावर था। रोज सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था, नई और सुन्दर कविता।

छा०—हूँ? *(पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है)*

शे०—परन्तु उसमें एक बुराई थी।

छा०—क्या?

शे०—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता—'मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ'।

छा०—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ?

शे०—नहीं। उसने सोचा कि कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदल कर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छा०—उसके बाद?

शे०—उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी।

छा०—फिर ?

शे०—फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला, बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छा०—बताऊँ ?

शे०—हाँ !

छा०—राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ ? *(खड़ी हो जाती है)*

शे०—*(मुसकराते हुए)* छाया, तुम—

छा०—*(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ)* वह गायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक था, झूठी कहानी। और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—*(इस बीच में शेखर की मुसकराहट हलकी हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते पहुँचते दोनों जोर से हँस पड़ते हैं।)*

शे०—*(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए)* लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ—तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो।

छा०—*(बड़े गम्भीर, उलहना भरे स्वर में)* प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शे०—क्या मतलब तुम्हारा ?

छा०—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—'चलो, थोड़ा मन बहलाव ही कर लें।' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनियाँ में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और वह ऐसे भागता है मानो पिंजरे से छूटा हुआ पक्षी। और स्त्री ? स्त्री के लिए वही अँधेरा, फिर वही सूनापन।

शे०—(मंद स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छा०—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शे०—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ ?

छा०—उँहूँ। मैं नहीं मान सकती।

शे०—सुनो तो; मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़े ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उसमें सौंदर्य दीखता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौंदर्य दीखता है। जिस दिन मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा, उस दिन मैं सौंदर्य से दूर

हो जाऊँगा; अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा। (*कुछ रुककर*) मेरी कविता मर जाएगी।

छा०—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी, किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी; बहुत दिन रहेगी।

शे०—मेरी कविता ! (*कुछ देर बाद*) छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रक्खा था।

छा०—रहने दो, तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो।

शे०—नहीं।......अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (*छाया उठाती है*) उसके नीचे कुछ है। (*छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है*) उसे खोलो।......क्या है ?

छा०—(*आश्चर्यान्वित होकर*) ओह ! (*ज्यों ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है*) 'भोर का तारा'। उफ्फोह ! यह तुमने कब लिखा ? मुझसे छिपकर ?

शे०—(*हँसते हुए। विजय का-सा भाव*) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था ?

छा०—(*शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर*) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर ? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो हम और तुम...(*रुक जाती है*)

शे०—हाँ' छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था। *(गहरे स्वर में)* आज वह समाप्त हो गया।

छा०—शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शे०—उसे यहाँ लाओ। *(हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ)* 'भोर का तारा'। छाया यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा। और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा, उस समय सम्राट् गद्गद् हो जाएँगे, और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया, बरसों बाद दुनियाँ पढ़ेगी, कविकुलशिरोमणि शेखर कृत 'भोर का तारा'—हा हा हा! *(विभोर)*

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर चिंता की रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है)

छा०—शेखर! *(वह हँसे जा रहा है)* शेखर! *(हँसे जा रहा है)* शेखर! *(शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है)*

शे०—*(सहसा चुप होकर)* क्यों छाया, क्या हुआ तुमको?

छा०—*(चिन्तित स्वर में)* शेखर! *(चुप हो जाती है।)*

शे०—कहो।

छा०—शेखर! तुम इसे सम्हालकर रक्खोगे न?

शे०—बस, इतनी ही सी बात?

छा०—शेखर, मुझे डर लगता है कि...कि... कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई उसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम—

शे०—हा हा हा! पगली, ऐसा क्यों होने लगा? सोचने

से ही डर गईं ! छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न !...इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ? और तुम ? जानती हो, तुम कौन हो ? तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सब से बड़े कवि शेखर की पत्नी।...तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि। हँ हँ हँ !......क्यों छाया ?

छा० (*मन्द स्वर में*) तुम सच कहते हो, शेखर। हम लोग बहुत सुखी हैं।

शे०—(*मग्नावस्था में*) बहुत सुखी !

(*सहसा बाहर कोलाहल। घोड़े के टापों की आवाज। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है*)

शे०—कौन है ?

(*सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित; शस्त्रों से सुसज्जित। पसीने से नहा रहा है। चेहरे पर भय और चिंता के चिह्न हैं*)

शेखर और छाया—माधव !

शे०—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

मा०—(*दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ*) शेखर छाया, (*फिर उस कमरे पर डरती-सी आँखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है*) मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है)

छा०—भीख माँगने !—तक्षशिला से !

शे०—तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

मा०—*(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना आरंभ करता है, परन्तु ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है)* हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ पाया यह मैं नहीं जानता। यात्रा के ये दिन कैसे बीते, यह भी नहीं जानता। हाँ, यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी !

शे०—गुप्त-साम्राज्य संकट में है। क्या कह रहे हो माधव ?

मा०—*(संजीदगी के साथ)* शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छा०—*(भयाक्रान्त होकर)* तोरमाण ?

मा०—उसने सिन्धुनद को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है; उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है।

छा०—*(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उनकी भुजा पकड़ती हुई)* तक्षशिला ?

मा०—*(उसी स्वर में)* सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं। हत्याएँ हो रही

हैं। अत्याचार हो रहा है। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हाहाकार से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया, मैं तुमसे माँगता हूँ, नई भीख माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की इस संकट में मदद करो। (*बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।*) देखो, बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो। (*शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।*) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, अपनी ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव गाँव में जाकर वह आग फैला दो; जिससे हजारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (*कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है—जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो*) कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छा०—(*अत्यन्त दर्द-भरे करुण स्वर में*) माधव ! माधव !

मा०—(*मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है। फिर थोड़ी देर बाद*) छाया, उन्होंने कहा था—'मेरे प्राण क्या चीज हैं, इसमें तो सहस्रों मिट गये और सहस्रों को मिटना है।'

शे०—(*मानो नींद से जगा हो*) किसने ?

मा०—आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय !

छा०—(*जैसे बिजली गिरी हो*) माधव, माधव, तो क्या भैया—

मा०—उन्होंने वीरगति पाई है, छाया! (*छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है, शेखर एक दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानों डूबते को सहारा मिलने वाला है*) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट आ पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए अपने प्राण संकट में डाल दिये और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा। मैं आज—

(*सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अँगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है*)

छा०—(*उसे फाड़ते हुए देखकर*) शेखर!

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं। छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हँसी के बाद बाहर चल देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज थोड़ी देर तक सुनाई देती है। माधव द्वार की ओर बढ़ता है।)

छा०—(अत्यन्त पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया। (माधव उसके ये शब्द सुनकर बाहर जाता जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है और फिर पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है। शेखर और उसके साथ पूरे जन समूह के गाने का स्वर सुन पड़ता है—

नकार पै डंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने सँभाल।
बुलाती है वीरों को तुरही, तू उठ कोई रस्ता निकाल॥

(शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बन्द कर देता है। पुनः शान्ति। इसके बाद मंद परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है)

मा०—छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नहीं किया। प्रभात तो अब होगा। शेखर तो अब तक भोर का तारा था; अब वह प्रभात का सूर्य होगा।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है)

(पर्दा गिरता है)

पापी

(श्री उपेन्द्रनाथ अश्क)

अश्क जी के एकांकी नाटकों का दृष्टिकोण प्रधानतः सामाजिक है। इस क्षेत्र में नारी की असहायावस्था और विवशता की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। भारतीय संस्कारों ने नारी को त्याग और बलिदान की भावनाओं से सुसज्जित किया है, ऐसी स्थिति में नारी की कोमल और उत्सर्गमयी भावनाओं को परिस्थितियों के घोर संघर्ष में चित्रित करना अश्क जी की नाट्यकला का सब से सुदर अंग है। स्वार्थी संसार के समक्ष जब त्याग और उत्सर्ग की भावना प्रस्तुत की जाती है तो कठोर संघर्ष और अन्तर्द्वंद्व की परिस्थिति आती है। इस संघष और अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने में अश्क जी ने अपनी पूर्ण क्षमता प्रदर्शित की है।

संवादों की स्वाभाविकता और अनुरंजनकारी प्रगति अश्क जी की दूसरी विशेषता है। वे उर्दू के सफल कहानी लेखक हैं। फलतः उनकी भाषा अत्यन्त मुहाविरेदार और प्रवाहमयी बन गई है। जब मनोविज्ञान के साथ स्वाभाविक भाषा का योग हो जाता है तो पात्र स्वयं चलने-फिरने और बोलने सुनने योग्य हो जाते हैं।

सामाजिक जीवन को वास्तविक परिस्थितियों में उतार कर स्वाभाविकता के साथ उपस्थित करना अश्क जी की विशेषता है।

पात्र

छाया

शान्तिलाल रेखा

उषा

माँ

समय—सायंकाल साढ़े-सात बजे। घरों में लैम्प रोशन हो चुके हैं।

स्थान—शान्तिलाल के घर का कमरा, जो ड्राइंग-रूम का भी काम देता है।

पापी

(तीन दरवाजे कमरे में खुलते हैं। नम्बर (१) छाया के कमरे को जाता है, जो ड्राइंग-रूम से तनिक दूर घर के पिछवाड़े की ओर है। नम्बर (२) आँगन में खुलता है, जिधर से रसोई-घर और ड्योढ़ी को जाने के रास्ते हैं। नम्बर (३) एक कमरे में खुलता है, जो एक प्रकार का आराम का कमरा है।

ड्राइंग-रूम में एक मेज है, जिसके आसपास कुर्सियाँ पड़ी हैं। सामने अँगीठी की कारनिस पर फूलदान रखे हैं। मेज पर पुस्तकें चुनी हुई हैं। सामने के दरवाजों पर काले रंग के पर्दे हैं, जिन पर श्वेत मोर बने हैं। कमरे के दरवाजे पर हल्के लाल रंग का पर्दा है। ड्राइंग-रूम को बिजली के तीन बल्ब रोशन कर रहे हैं।

पर्दा उठता है।

छाया दाईं ओर का पर्दा उठाकर अन्दर झाँकती है। एक पाँव अन्दर रखती है और कुछ क्षण चौखट में ही बैठी रहती है। फिर दूसरा पाँव अन्दर रखती है और किवाड़ का सहारा लेकर खड़ी होती है, पतली-दुबली यक्ष्मा से पीड़ित। शरीर सूखकर कंकालमात्र रह गया है। अधर शुष्क हैं, गाल पिचक गये हैं, जबड़ों की

हड्डियाँ उभरी हुई हैं। रंग काला पड़ गया है। शलवार और कमीज पहने है; परन्तु दोनों कपड़े उसके शरीर पर ढीले दिखाई देते हैं।

धीरे-धीरे इधर-उधर देखती हुई बढ़ती है। सर में चक्कर आता है। एक हाथ से सर को थामकर दूसरे से मेज का सहारा लेती है और कुर्सी में धँस जाती है। सर मेज पर रख लेती है। दो-एक बार मुँह पर रूमाल रखकर खाँसती है, फिर धीरे धीरे सिर उठाती है। मद्धिम् आवाज में जैसे अपने-आप बातें कर रही है।)

छाया—जब मर ही जाना है, सब-कुछ छोड़कर मर जाना है तो फिर यह ईर्ष्या क्यों, यह डाह क्यों? आज न सही, कल; कल न सही, परसों; शीघ्र ही जीवन का टिमटिमाता हुआ दीया बुझ जाने को है। फिर भविष्य के उस अंधकार में टटोलने से लाभ? कोई उसे प्रदीप्त करे। वह ज्योतिर्मयी मशाल हो, या चकाचौंध पैदा करने वाली बिजली, कोई हो, दीये को क्या? बुझे हुये दीप को क्या?

दीर्घ निःश्वास छोड़ती है। जोर की खाँसी आती है; मुँह पर रूमाल रखकर सर मेज से लगा लेती है। कुछ देर बाद फिर धीरे धीरे सिर उठाती है। मुख और उतर गया है। उसी भाँति अपने-आप)

—नहीं; देखूँगी। अपने हाथों बनाये हुये कल्पना के भव्य प्रासादों को अपने सामने जलते हुये देखूँगी! उन्हें जलने से

बचा तो न सकूँगी, परन्तु चुप भी कैसे बैठी रह सकूँगी किसी का घर धड़ाधड़ जल रहा हो और वह मौन, चुप, मजे से बैठा रहे, कैसे हो सकता है? वह उसे जलने से न बचा सकता हो वह कुछ भी न कर सकता हो। वह देख तो सकता है—अपनी हसरतों, अपने अरमानों, अपनी चिर-संचित आकांक्षाओं को बर्बाद होते देख तो सकता है। वह न देखेगा तो पागल हो जायगा, न देखेगा तो मर जायगा।

(खाँसी आती है, रूमाल मुँह पर रखती है।)

—उसी कमरे में होंगे वे. मैंने उन्हें कुछ देर पहले इधर आते देखा था। इस कमरे में तो नहीं, जरूर उसी में होंगे।

(उठती है। खाँसी आती है। एक पग चलती है, फिर दूसरी कुर्सी पर बैठ जाती है। फिर धीरे धीरे चलकर कमरे के दरवाजे तक जाती है। पर्दा उठाकर देखती है। दरवाजा जरा-सा खुला है। झाँकती है। जल्दी से पर्दा छोड़ देती है, मुड़ती है, चेहरा और भी काला पड़ जाता है, आँखों के गढ़े और भी गहरे हो जाते हैं।)

—*(तनिक आवेग से)* रेखा, रेखा, बहन होकर, माँ-जाई होकर मेरी चिता पर यह रँगरेलियाँ! हाय, तुम्हें लज्जा नहीं आती, तुम्हें लज्जा नहीं आती रेखा, और तुम—तुम्हें मैं क्या कहूँ?

(तेजी से जाने लगती है। सर में चक्कर आता है। कुर्सी का सहारा लेते-लेते गिर पड़ती और अचेत हो जाती है। कमरे का

दरवाजा खुलता है। पर्दे को उठाकर तेजी से शान्तिलाल प्रवेश करता है, केवल एक कमीज और पतलून पहने। कमीज का गिरेबान खुला है।

रसोई की ओर से माँ भागी आती है। हाथ में फुँकनी और मुँह पर कालिख के धब्बे हैं। घबराई हुई है, साँस फूल रही है। फुँकनी फेंकती है, छाया पर झुकती है। शान्तिलाल घुटनों के बल बैठा है।)

शान्तिलाल—(*आवाज धीमी और कंठ में फँसी हुई*) छाया, छाया !

माँ—इतनी दूर चलकर यह कैसे आ गई ? अपने कमरे से यहाँ तक ! इसे तो चारपाई तक से हिलने की मनाही है।

शान्तिलाल—(*छाया को अपनी बलिष्ठ भुजाओं में उठाता हुआ*) मुझे क्या मालूम ?

(*छाया को उठाकर उसके कमरे की ओर ले जाता है। माँ उसके पीछे-पीछे जाती है। कमरे से धीरे-धीरे रेखा निकलती है। मँझोला कद, कोमल अंग, उन्नाबी रंग की साड़ी में चलती-फिरती ज्वाला दिखाई देती है। मुख पर चिन्ता है। पग-पग चलती मध्य में आ जाती है।*)

रेखा—(*धीरे-धीरे, आप-आप*) क्या हो रहा है, क्या होने को है ? मैं तो बीमार बहन को देखने आई थी, मैं तो उसका दुख बँटाने आई थी। क्या मैं उसका दुख दूर कर रही हूँ ? (*व्यंग से मुस्कराती है।*) वाह ! क्या खूब दर्द बँटा रही हूँ ! मैं

उसे मृत्यु के समीप लिये जा रही हूँ; उसके दुख की चिनगारी को ज्वाला बना रही हूँ।

(कुर्सी में धँस जाती है।)

—रेखा, रेखा, तुझे क्या हो गया है? तुझे क्या हो गया है? तुझे अपने आप पर तनिक भी काबू नहीं रहा? तू बही जा रही है, डूबी जा रही है और अपने साथ उसे भी बहाये जा रही है, उसे भी डुबाये जा रही है, जिसे तू बचाना चाहती है, जिसे तू बचाने को आई है। *(उठती है। कमरे में बेचैनी से घूमती है।)* नहीं, तुझे अपने आप पर काबू रखना होगा। तुझे अपने-आपको हत्यारिन होने से बचाना होगा। यह दिल! इस पागल दिल के उद्गारों को रोक रखना होगा; यह आँखें! इन प्यासी आँखों की तृष्णा को दबा देना होगा; यह कान! इन रसिया कानों की लालसा को बाँध रखना होगा। तू देखकर भी न देखेगी, सुनकर भी न सुनेगी, अनुभूति रखने पर भी कुछ महसूस न करेगी।

(किवाड़ खुलने की आवाज आती है। रेखा तेजी से कमरे में चली जाती है। छाया के कमरे की ओर से शान्तिलाल दाखिल होता है। भृकुटी तनी हुई है, फर्श पर गिरी हुई एक पुस्तक को पाँव की ठोकर मारता हुआ अँगीठी के नीचे गद्देदार कुर्सी पर बैठ जाता है। कुहनियाँ टेक लेता है और हथेलियों पर ठोढ़ी रखकर सोचता है। उसी दरवाजे से माँ प्रवेश करती है।

माँ—तुम इधर आ गये, उसके पास जाकर बैठो।

शान्तिलाल—(चुप)

माँ—जाओ, उसके पास जाकर बैठो; वह बीमार है, मरने को है।

शान्तिलाल—(चुप)

मा—मैं क्या चीख रही हूँ, क्या बक रही हूँ?

शान्तिलाल—(*उसी तरह बैठे-बैठे*) मैं यह सब कुछ नहीं सह सकता।

माँ—क्या नहीं सह सकते?

शान्तिलाल—यह दर-रोज का दुख, क्लेश, व्यथा, व्यंग-उपहास। मैं थक गया हूँ—

माँ—और हममें क्या नित-नई शक्ति आती है? हम नहीं थक गये, हम नहीं ऊब गये? किन्तु यह कर्तव्य है, धर्म है। कल मैं बीमार पड़ जाऊँ, तो क्या मैं न चाहूँगी, कोई मेरी सेवा करे, कोई मेरे पास बैठे, मेरी सेवा-शुश्रूषा करे? जाओ, वह रो रही है, उसे धीरज बँधाओ।

शान्तिलाल—मैं कहाँ तक सान्त्वना दूँ, कहाँ तक धीरज बँधाऊँ?

माँ—जैसे तुम सदा धीरज बँधाते हो, सान्त्वना देते हो!

शान्तिलाल—(*बेजारी से*) नहीं, मैं कुछ नहीं करता; मैंने कुछ नहीं किया। बस, फिर वही व्यंग के तीर, वही कटु अन-कहनी बातें! (*तनिक आवेग से*) क्या मैंने महीनों उसकी सेवा

नहीं की, महीनों अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न करके उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करता रहा, दिन के एक-एक बजे तक बिना खाये-पिये डाक्टरों के पीछे मारा-मारा नहीं फिरा, सैनेटोरियम में मैंने उसे नहीं पहुँचाया, पहाड़ पर मैं उसे नहीं ले गया, दिन का चैन और रातों की नींद मैंने हराम नहीं की ? *(धीमे स्वर में)* नहीं, मैंने कुछ नहीं किया, मैंने कुछ नहीं किया !

माँ—नहीं, तुमने बहुत कुछ किया है, और उस बहुत-कुछ का तो शायद तुम बदला ले रहे हो—और उसकी आँखों के सामने ही—हाय ! शान्तिलाल-बेटा, तुमने उसकी दशा कैसी बना दी है ? दो वर्षों में वह इतनी खराब नहीं हुई, जितनी इन दो दिनों में। वह होश में है, किन्तु अच्छा था, यदि वह बेहोश होती। मैं कहती हूँ, तुम यह व्यवहार छोड़ दो, तुम्हें वह अच्छी नहीं लगती तो उसे विष दे दो, उसका गला घोंट दो।

शान्तिलाल—*(जोश से खड़ा हो जाता है।)* मैंने उसकी यह दशा की है, व्यवहार मेरा बुरा है। बच्चा पैदा होने के बाद दिन-रात मैंने उसे काम में लगाये रखा, उसके सिर में पीड़ा रहने लगी, उसे मैंने नखरा बताया। उसे ज्वर हो आया, मैंने तानों की खूराकें दीं। टाइफॉइड के बाद मैंने उसे आराम न लेने दिया। आप को अपने दोष दूसरों के सिर मढ़ने खूब आते हैं। यदि उसे मेरे व्यवहार के कारण ही बीमार होना होता, तो वह अब तक मर चुकी होती। तीन वर्ष जो मेरे पास रही, तब तो

उसका सिर तक न दुखा; यहाँ आकर ही उसे बीमारी क्यों चिमट गई, उसकी बीमारी का उत्तरदायी मैं हूँ, या आप ?

माँ—(*शान्ति के साथ*) बेटा, बीमारी न तुम्हारे बस की है, न मेरे ! यह तो न लगाये लगती है, और न हटाये हटती है। जिसके भाग्य में जितना दुःख लिखा है, उसे भोगना पड़ेगा—चाहे वह धनी हो, या निर्धन; सम्पन्न हो, या विपन्न।

शान्तिलाल—नहीं, मैं यह नहीं मानता। ये सब रोग हमारे लगाये ही लगते हैं। नव विवाहित युवक यक्ष्मा से उतने क्यों नहीं मरते, जितनी नव-विवाहित युवतियाँ ? यह सासों की क्षुद्रता और निर्दयता है, जिसके कारण आज इतनी लड़कियाँ इस रोग के हाथों मृत्यु का ग्रास बन रही हैं।

माँ—सासें निर्दयी होती हैं ?

शान्तिलाल—नहीं तो क्या, दया का अवतार होती हैं ! मैंने तुम्हें आज तक माँ के रूप में देखा था, माँ ! यदि मुझे ज्ञात होता, इस दयामयी माँ के कलेवर में निर्दयी सास भी छुपी हुई है तो मैं किसी अस्पताल में प्रसव का प्रबन्ध कर लेता। उसे बच्चा हुआ, उसकी देख-भाल न की गई; उसे टाइफॉइड हुआ ठीक उपचार न किया गया। मैं आराम-आराम चीखता रहा, उसे आराम न दिया गया। अब तुम्हीं बताओ, जिस लड़की ने माँ-बाप के घर बहुत काम न किया हो, पति के घर बहुत काम न किया हो, वह बच्चे वाली हो, उसे पढ़ने का शौक हो, वह काम भी करे, दस-दस कमरों में बुहारी दे, ढेर-के-ढेर बर्तन

माँजे, समय कुसमय खाना खाये, फिर वह बीमार न हो, तो क्या हो ?

माँ—टाइफॉइड तो तुम्हारे भाई को भी हुआ था, मरते-मरते बचा था।

शान्तिलाल—वह तुम्हारा लड़का था, बहू न थी। मैं कब कहता हूँ, तुम में मुहब्बत का अभाव है। मैं जानता हूँ, मैं बीमार हो जाऊँ, तो तुम आकाश-पाताल एक कर दोगी; पर यदि बहू की तबियत खराब हो, तो तुम कहोगी कि नखरे करती है, बहाने बनाती है! मैंने लाख कहा कि मैं काम नहीं चाहता, उसे आराम करने दो; पर तुम लोग तो उसे मारने पर तुले हुए थे। तुम सबने मिल-मिलाकर उसे बीमार कर दिया, अब अभियोग मुझ पर धरा जाता है। विष का घूँट तुम लोगों ने उसे पिलाया, खाली प्याला बरबस मेरे हाथों में ठूँसा जा रहा है। (*कुर्सी में धँस जाता है।*)

माँ—(*जोश में खड़ी हो जाती है।*) शर्म करो, शर्म करो! हमें दोषी ठहराते तुम्हें लज्जा नहीं आती। तुम्हें हमारी सेवा, सेवा नहीं मालूम होती। हम सारा-सारा दिन काम करते रहें, सारी-सारी रातें जागते रहें, वह किसी गिनती में ही नहीं! मैं कहती हूँ, जो हालत तुमने पैदा कर रखी है, उसमें तुम्हारी माँ तो क्या, स्वयं धन्वन्तरि भी चलकर आयें, तो उसे निरोग न कर सकें। जरा अपने गरेबाँ में मुँह डालकर देखो। सोचो, बीमार स्त्री सेवा-सुश्रूषा ही चाहती है क्या, सूखी सेवा-सुश्रूषा ही चाहती

है क्या ? वह क्या चाहती है, यह तुम अच्छी तरह जानते हो; पर तुम जानते हुए भी अनजाने बनते हो। समझने की शक्ति रखते हुए भी समझने का प्रयास नहीं करते !

शान्तिलाल—क्या, समझने का प्रयास नहीं करता ?

माँ—यही कि बीमार नारी क्या चाहती है।

शान्तिलाल—क्या चाहती है ?

माँ—वह चाहती है कि उसका पति उसके पास रहे। उसके सिरहाने बैठे, उसकी सेवा-सुश्रूषा करे और इन सबसे बढ़कर उसे तसल्ली दे। उसे बताये कि वह उसके साथ है। चाहे दुनिया उसका साथ छोड़ दे, रिश्ते-नातेदार उसकी बीमारी से ऊब जायें; पर वह न ऊबेगा, उसके व्यवहार में अन्तर न आयेगा। वह उससे उतना ही प्रेम करेगा, जितना पहले करता था।

शान्तिलाल—क्या मैंने ऐसा नहीं किया, क्या मैंने निरन्तर कई रातें उसके सिरहाने बैठकर नहीं गुजार दीं ?

माँ—हाँ, गुजार दी हैं, और शायद इसीलिए इसी जन्म में उससे अपने एहसान का बदला भी ले रहे हो और जीते-जी उसके सीने पर सौत......

(कमरे से रेखा निकलती है और तेजी से आँगन की ओर जाती है। मुख क्रोध के कारण लाल हो गया है।)

शान्तिलाल—रेखा ! *(खड़ा हो जाता है।)*

(रेखा नहीं सुनती, नहीं देखती, बढ़ी जाती है।)

शान्तिलाल—रेखा, रेखा !

(रेखा एक बार देखती है और चली जाती है। शान्तिलाल उसके पीछे जाता है।)

माँ—उसे देखते जाओ, उसे तसल्ली देते जाओ; उसकी दशा ठीक नहीं, वह न बचेगी।

(शान्तिलाल नहीं सुनता, चला जाता है। माँ निराश होकर बैठ जाती है। दूसरे दरवाजे से उषा प्रवेश करती है।)

उषा—माँ—भौजी !

माँ—छाया ?

उषा—हाँ !

माँ—क्या है ?

उषा—तुम चलो।

माँ—कहो, कहो, घबराई हुई क्यों हो ?

उषा—माँ, वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से छत को, दीवारों को, मुझको इस तरह देखती है कि मुझे डर लगता है। उसकी आँखों में आँसू हैं और मैं उसे धीरज नहीं बँधा सकती।

माँ—*(दीर्घ निःश्वास लेकर)* अभागी बहू, मरते समय भी तेरी किस्मत में चैन नहीं ! *(फिर दीर्घ निःश्वास लेती है। उषा से—)* चलो।

(दोनों छाया के कमरे को चली जाती हैं। आँगन से शान्तिलाल रेखा का हाथ पकड़े प्रवेश करता है। आकर कुर्सी पर बैठ जाता है। रेखा खड़ी है और दूसरी ओर मुँह किये हुये है।)

शान्तिलाल—रेखा !

रेखा—(चुप)

शान्तिलाल—(रुद्ध कंठ से) रेखा !

रेखा—(फिर चुप)

शान्तिलाल—(रेखा के हाथ को झटककर) रेखा, रेखा !

रेखा—(उसी भाँति खड़े-खड़े) कहो !

शान्तिलाल—क्या कहूँ, कुछ सूझता भी हो ! मस्तिष्क में हलचल मची हुई है, कुछ सोच नहीं पाता, कुछ समझ नहीं पाता। मैं क्या कहूँ ?

रेखा—तो कुछ न कहो, मुझे जाने दो।

शान्तिलाल—(रुद्ध कंठ से) रेखा, कुछ न कहूँ ?

रेखा—कुछ कहो या मुझे जाने दो। मैं तो पूछती हूँ, कहो, कुछ कहो; बताओ, क्या कहना चाहते हो ?

शान्तिलाल—तुम भाग क्यों गईं ?

रेखा—मैं जाना चाहती थी।

शान्तिलाल—नहीं, यह बात नहीं, तुम्हें माँ की बातें बुरी लगीं; पर मैं कहता हूँ उनकी···

रेखा—नहीं, मुझे किसी की बात बुरी नहीं लगी। मैं स्वयं जाना चाहती हूँ।

शान्तिलाल—बहन को इस दशा में छोड़कर भी !

रेखा—मैं रहूँगी तो बहन न बचेगी।

शान्तिलाल—तुम चली जाओगी, तो मैं न बचूँगा !

रेखा—(*व्यंग से मुस्कराती है।*) तुम, ओह !...बच सकते हो, तुम्हें कुछ न होगा। तुम जो एक प्रेयसी के कंकाल पर बैठकर दूसरी से प्रेम कर सकते हो ! कंकाल, हाँ कंकाल ही तो ! बहन में अब क्या रखा है ? हड्डियों का एक ढाँचा समझ लो। तुमने उससे कितना प्यार न जताया होगा, कितने वादे न किये होंगे, कितनी बार कहा होगा, मैं तुम्हारे बिना न जी सकूँगा छाया, तुम्हारे बिना न बच सकूँगा। अब वही तुम अपनी उसी छाया की उपस्थिति में एक दूसरी से मुहब्बत जता रहे हो, उससे कह रहे हो—मैं न बचूँगा ! तुम पुरुष हो, तुम्हारा कोई भरोसा नहीं, तुम पाषाण हो तुम्हारा दिल पत्थर का है।

शान्तिलाल—रेखा, मैं पत्थर-दिल नहीं, दिल तो कब का पानी हो चुका है !

रेखा—पत्थर-दिल नहीं ! (*व्यंग से हँसती है।*) जरा सोचो, जरा ख्याल करो, बहन का ख्याल करो, बीते दिनों का ख्याल करो, अतीत की स्मृतियों का ख्याल करो, उसकी बीमारी का ख्याल करो, उसकी पल-भर को मिट जानेवाली आकांक्षाओं, हसरतों और अरमानों का ख्याल करो और फिर अपनी संग-दिली का ख्याल करो।

शान्तिलाल—तुमने मुझे सब कुछ भुला दिया है, तुमने मुझे पागल बना दिया है।

रेखा—इसीलिए मैं जा रही हूँ, तुम पागल न बनो, होश में आओ, अपने कर्तव्य को पहचानो।

शान्तिलाल—रहो, जाओ मत। जिस तरह कहोगी करूँगा। यों पागल बनाकर न चली जाओ, मैं कुछ न कर सकूँगा। तुम मेरे पास रहो, मुझे आदेश दो, मैं वैसा ही करता जाऊँगा।

रेखा—तुम नहीं समझते, मेरे रहने से बहन को कितना दुःख होगा। तुमने उसके वे शब्द नहीं सुने, उसके हृदय में उठते हुए तूफान का अनुमान नहीं किया, उसे अचेत होते नहीं देखा—हाँ! मैं उस पर, अपनी बहन पर, बीमार, मरनेवाली बहन पर इतने अनर्थ ढाने-वाली हो गई! मुझे मौत क्यों न आ गई, मैं मर क्यों न गई?—छोड़ दो, छोड़ दो, मुझे जाने दो!

शान्तिलाल—रेखा, आग लगाकर तुम जाना चाहती हो?

रेखा—मैं कुछ नहीं जानती, मैं कुछ नहीं जानती। तुमने मुझे अपना कर्तव्य भुला दिया है। तुमने, तुम्हारी मीठी, मादक, बातों ने, तुम्हारे जादू-भरे शब्दों ने मुझे अपने-आप में नहीं रखा; पर अब नहीं। मैं स्वयं जली जा रही हूँ, यहाँ से जाकर भी मैं सुखी न रह सकूँगी, मैं जलती रहूँगी; मैं जलती रहूँगी; लेकिन मैं जाऊँगी, यह अनर्थ है, यह अन्याय है!

(*हाथ छुड़ाकर भाग जाती है।*)

शान्तिलाल—(*उठकर उसके पीछे जाता है।*) रेखा!

रेखा—(*आँगन से*) मेरे पीछे मत आओ, बहन के पास जाओ!

शान्तिलाल—रेखा, रेखा!

(उसके पीछे, जाता है। पहले दरवाजे से मां प्रवेश करती है।)

माँ—शान्तिलाल, शान्तिलाल, वह तुम्हें बुलाती है, वह तुमसे कुछ कहना चाहती है!

(आँगन के दरवाजे से निकल जाती है। पहले दरवाजे से उषा प्रवेश करती है।)

उषा—माँ, माँ!

(माँ के पीछे आँगन को जाती है, आहिस्ता-आहिस्ता घिसटती हुई छाया प्रवेश करती है, किवाड़ का सहारा लेकर खड़ी होती है।)

छाया—*(उन्मादिनी की भाँति)* तुम न आओ, तुम न आओ। मैं स्वयं आती हूँ। दोष मेरा है। तुम रुष्ट हो, किन्तु मरनेवाली से रोष कैसा? *(खाँसती है।)* तुम्हें क्रोध होगा। मैंने तुम पर सन्देह किया, अपनी माँ-जाई को अविश्वास की दृष्टि से देखा; लेकिन मैं मौत की अँधेरी खोह पर खड़ी हूँ। जानें कब अथाह अंधकार में गुम हो जाऊँगी, मैं होश में नहीं हूँ। *(जोर से खाँसती है।)* मुझे क्षमा कर दो। तुमने मेरी बहुत सेवा की, सात जन्म इसका बदला न चुका सकूँगी। ईश्वर करे, अगले जन्म में फिर तुम्हारी दासी बनूँ और तुम्हारी सेवा करते-करते प्राण दूँ।

(सर में चक्कर आता है, बैठते-बैठते गिर पड़ती है। माँ आँगन से दौड़कर आती है।)

माँ—छाया, छाया!

ऊषा—(*भागकर आती है।*) भौजी, भौजी !

(*छाया धीरे-धीरे आँखें खोलती है, साँस चढ़ी हुई है। माँ उसका सर अपनी गोद में रखती है।*)

छाया—माँ, मेरे सब दोष क्षमा कर देना। मैंने तुम्हें बहुत दुख दिया है।

माँ—आराम कर बेटी, तू थक गई है।

छाया—बस, अब आराम ही करना है, अनन्त विश्राम की गोद में सोना है, अपने पाँव इधर लाओ माँ, उनकी धूल अपने माथे पर लगाऊँ।

(*माँ रोती है, छाया उसके पाँवों की धूल अपने मस्तक को लगाती है।*)

छाया—माँ, मैंने उन पर सन्देह किया, व्यर्थ ही उन्हें दोष दिया। उनसे कहना मुझे क्षमा कर दें, मैं मर रही हूँ।

माँ—उस पापी का नाम न लो, राम-राम कहो।

छाया—वे आयें तो उनके चरणों की धूल मेरे माथे पर लगा देना।

(*आँखें बन्द हो जाती हैं।*)

माँ—छाया, बेटी !

(*रोने लगती है।*)

ऊषा—भौजी, भौजी !

(रोती है)

माँ—(*सिसकते हुए*) बस, स्नेह समाप्त हो गया। दिया बुझ गया। उषा, रोशनी बुझा दो। इसे आँगन में ले चलो।

(*उषा बिजली का एक बटन दबाती है, एक बल्ब बुझ जाता है, दो स्त्रियाँ प्रवेश करती हैं।*)

एक—मर गई!

माँ—(*केवल रोती है।*)

दूसरी—बेचारी ने बड़ा दुःख पाया है।

(*उषा दूसरा बटन दबाती है। सब शव को उठाकर ले जाती हैं। उषा तीसरी बत्ती बुझती है। कमरे में अँधेरा हो जाता है, केवल आँगन और उधर के झरोखों से प्रकाश की क्षीण रेखाएँ ड्राइंग रूम को थोड़ा-सा रोशन रखती हैं। शान्तिलाल प्रवेश करता है।*)

शान्तिलाल—चली गई! रेखा भी चली गई, छाया भी चली गई! चारों ओर अँधेरा है, चारों ओर तारीकी है। केवल मैं इस अन्धकार में भटकने के लिए रह गया हूँ। छाया देवी थी, रेखा भी देवी थी, मैं ही नीच हूँ, मैं ही पापी हूँ।

(*कुर्सी में धँस जाता है।*)

(*पर्दा अचानक गिर पड़ता है।*)

कंगाल नहीं

(सेठ गोविन्द दास)

बड़े नाटकों के साथ एकांकी नाटकों की सृष्टि करने में सेठ जी ने जीवन के अध्ययन की बारीकियों की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित की है। विचारों की अत्यंत व्यापक भूमि पर इनके पात्र अवतरित होकर जीवन की विविध समस्याओं को सुलझाते हुये दृष्टिगत होते हैं। नाटक के प्रारंभ में ही कुतूहलता का वातावरण उत्पन्न कर देना इनकी नाट्य कला का विशेषता है। ऐतिहासिक नाटकों के साथ ही सामाजिक नाटकों में सेठ जी ने जीवन के अंगों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऐतिहासिक नाटकों में जहाँ ये प्राचीन गौरव की झलक दिखलाते हैं वहाँ सामाजिक नाटकों में सेठ जी विवेक और तर्क को प्रमुख स्थान देते हैं। इस प्रकार इनके नाटकों में एक ऐसी गूढ़ संवेदना रहती है कि उससे आत्म-परिष्कार की भावना जागरित हो जाती है। इन्होंने अधिकतर एक से अधिक दृश्यों में एकांकियों की रचना की है। अंग्रेजी के Epilogue (एपीलोग) और Prologue (प्रालोग) की भाँति इनकी मुख्य कथा में प्रारंभिक और अंतिम दृश्य भी जुड़े रहते हैं।

सेठ जी के नाटकों में जीवन की समस्याएँ सिद्धान्तों के साथ ही साथ चलती हैं और इस प्रकार इन्होंने हमें जीवन का तर्कसम्मत दृष्टिकोण दिया है।

पात्र, स्थान

पात्र

राजमाता—सिलापरी गाँव की मालगुजारिन, राजगोंड वंश की राजमाता

बड़े राजा
मँझले राजा } राजमाता के तीन पुत्र
छोटे राजा

बड़ी रानी—बड़े राजा की पत्नी

मझली रानी—मँझले राजा की पत्नी

राजकुमारी—राजमाता की पुत्री

स्थान—सिलापरी गाँव (*जिला सागर, मध्यप्रान्त*)

स्थान—सिलापरी गाँव में राजमाता का घर

समय—सन्ध्या

नोट—इस नाटक की कथा को मध्य प्रान्त के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता रायबहादुर हीरालाल ने लेखक को बताई थी। कथा एक सत्य घटना है।

कंगाल नहीं

[एक तरफ को राजमाता के घर की खपरेल परछी दिखाई देती है, जिसके कई खपरे टूट गये हैं। परछी में एक ओर घर के भीतर जाने का दरवाजा दिखता है, जिसके किवाड़ों की लकड़ी भी टूट गई है। यह दरवाजा खुला हुआ है और इसके अन्दर घर के छोटे से मैले कुचैले कोठे का एक हिस्सा दिखाई देता है। परछी के सामने मैदान है। मैदान के एक तरफ दूर पर गाँव के कुछ झोपड़े दिखते हैं और दूसरी तरफ खेत का एक हिस्सा, जिसमें छोटी छोटी बिरल सूखी सी फसल खड़ी है। परछी में एक फटे से बोरे पर राजमाता बैठी हैं। उनकी उम्र करीब ५० साल की है। रंग साँवला है। मुख और शरीर पर कुछ झुर्रियाँ पड़ गई हैं। बाल आधे से अधिक सफेद हो गये हैं। शरीर बहुत दुबला पतला है। शरीर पर वे एक मैली सी लाल बुंदेलखंडी सूती साड़ी पहने हैं, जो कई जगह से फटी हुई है और जिसमें कई जगह थिगड़े लगे हैं। राजमाता के पास बड़ी रानी और मँझली रानी जमीन पर ही बैठी हुई हैं। दोनों साँवले रंग की हैं। बड़ी रानी की उम्र करीब पचीस वर्ष और मँझली रानी की करीब बीस वर्ष की है। दोनों

युवतियाँ होते हुए भी कृश हैं और उनकी आँखों के चारों तरफ के गढ़ों और सूखे ओंठों से जान पड़ता है कि उन्हें पेट भर खाने को नहीं मिलता। दोनों राजमाता के समान ही लाल रंग की साड़ियाँ पहने हैं, जो कई जगह से फटी हुई और थिगड़ैल भी हैं। दोनों के हाथों में मोटी मोटी लाख की एक चूड़ी है। तीनों में बातचीत हो रही है। राजमाता की आँखों में आँसू भरे हैं।]

बड़ी रानी—कहाँ तक रंज करोगी, माँ, और रंज करने से फायदा ही क्या होगा?

राजमाता—जानती हूँ, बेटी, पर जानने से क्या होता है, जो बात रंज की है, उस पर रंज आये बिना नहीं रहता।

मँझली रानी—पर, माँ, जो बात बस की नहीं, उस पर रंज करना फजूल है।

राजमाता—बिना बस की बात ही तो जादा रंज पहुँचाती है।

[घर के भीतर से छोटे राजा और राजकुमारी हाथ में एक एक तस्वीर लिये हुए आते हैं। छोटे राजा की उम्र करीब बारह वर्ष की है। वह साँवले रंग और ठिगने कद का दुबला पतला लड़का है। एक मैली और फटी सी धोती पहने है, जो घुटने के ऊपर तक चढ़ी है। ऊपर का बदन नंगा है। राजकुमारी करीब ८ साल की साँवले रंग की दुबली पतली लड़की है। एक मैली सी लाल रंग की फटी हुई साड़ी पहने है। साड़ी इतनी फट गई है कि उसके शरीर का अधिकांश हिस्सा साड़ी में से दिखता है।]

छोटे राजा—(*राजकुमारी की ओर इशारा कर*) यह कहती है दुर्गावती ने बावन गढ़ जीते थे, मैं कहता हूँ संग्रामशाह ने। फैसला तुम करो मैं सच्चा हूँ या ये ?

राजकुमारी—हाँ, तुम फैसला कर दो, माँ।

राजमाता—बेटी, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीते थे, दुर्गावती ने नहीं।

छोटे राजा—देखा, मैंने पहले कहा था, यह बीरता आदमी कर सकता है, औरत नहीं।

(*राजकुमारी उदास हो जाती है*)

राजमाता—(*राजकुमारी को उदास देखकर*) उदास हो गई, बेटी, पर हमारे कुल में तो औरतें आदमियों से कम बीर नहीं हुईं। संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीते तो क्या हुआ, दुर्गावती उनसे कम बीर नहीं थीं।

बड़ी रानी—हाँ, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीतकर बीरता दिखाई तो दुर्गावती ने अपने प्रान देकर।

मँझली रानी—हाँ, जीत में बीरता दिखाना उतना कठिन नहीं, जितना हार में।

(*राजमाता रो पड़ती हैं*)

बड़ी रानी—माँ, फिर वही, फिर वही।

छोटे राजा—(*राजमाता के पास जाकर उनके निकट बैठ कर*) माँ, तुम रोती क्यों हो ? मैं संग्रामशाह से बड़ा बनूँगा। उनने बावन गढ़ जीते थे, मैं बावन शहर जीतूँगा।

राजकुमारी—(*राजमाता के पास जाकर*) और, माँ, मैं दुर्गावती से भी बड़ी बीर बनूँगी।

छोटे राजा—(*संग्रामशाह की तस्वीर दिखाते हुए*) देखो, माँ, संग्रामशाह से मैं कितना मिलता जुलता हूँ। अगर तुम मेरी इस फटी धोती की जगह जैसे कपड़े ये पहने हैं, वैसे पहना दो, मुझे तलवार मँगवा दो, और ऐसा ही घोड़ा खरीद दो, तो मैं अकेला बावन शहर जीत लाऊँ।

राजकुमारी—और, माँ, देखो, मैं दुर्गावती से कितनी मिलती हूँ। अगर तुम मुझे भी दुर्गावती जैसे कपड़े पहना दो, हथियार मँगवा दो, और जैसे हाथी पर ये बैठी हैं, वैसा हाथी मँगवा दो, मैं तो मैं भी दुर्गावती से बड़ी बीर बन जाऊँ।

[*राजमाता के और अधिक आँसू गिरने लगते हैं*]

बड़ी रानी—(*छोटे राजा और राजकुमारी को हाथ पकड़ कर उठाते हुए*) अच्छा, राजा जी, और, बाई, जी, मेरे साथ चलो, मैं तुम दोनों की सब चीजें मँगा दूँगी।

(*दोनों को लेकर बड़ी रानी घर के भीतर जाती है। मँझली रानी राजमाता के निकट सरककर अपनी फटी साड़ी से राजमाता के आँसू पोंछती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।*)

मँझली रानी—माँ, थोड़ा तो धीरज रखो।

राजमाता—बहुत जतन करती हूँ, बेटी, धीरज रखने के बहुत जतन करती हूँ; पर जब इन बच्चों की ऐसी बातें सुनती हूँ,

तब तो हिरदे में ऐसा सूल उठता है जैसा भूखे पेट और नंगे तन रहने पर भी नहीं। (कुछ ठहर कर) और, बेटी, एक बात जानती है ?

मँझली रानी—क्या, माँ ?

राजमाता—ये बच्चे ही इन तस्वीरों को लिये घूमते हैं और ऐसा सोचते और कहते हैं, यह नहीं, तेरे मालक और बड़ी बहू के मालक भी जब छोटे थे तब वे भी इसी तरह इन तस्वीरों को लिये घूमते और यही सब कहते फिरते थे। और वे ही नहीं, मेरे मालक, उनके बाप, और उनके बाप, और उनके बाप, सब यही सोचते और कहते थे।

मँझली रानी—आह !

(*राजमाता लंबी साँस लेती हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।*)

राजमाता—बेटी, संग्रामशाह और दुर्गावती को पीढ़ियाँ बीत गईं। गिरती में सब ने बढ़ती की सोची। बीती को सोचा, भवस के लम्बे लम्बे बिचार किये, पर बरतमान किसी ने न देखा और आज......(कुछ रुककर) आज, बेटी, बावनगढ़ के बिजेता संग्रामशाह के कुल को बावन छदाम भी नसीब नहीं।

(*मँझले राजा का खेत की तरफ से प्रवेश। मँझले राजा की उम्र २२, २३ वर्ष की है। रंग साँवला और शरीर दुबला पतला तथा ठिंगना है। एक मैली और फटी सी धोती को छोड़कर और कोई वस्त्र शरीर पर नहीं है। हाथ में थोड़े से गेहूँ के दाने हैं, जो बहुत*

पतले पड़ गये हैं। उन्हें देखकर मँझली रानी घर के भीतर चली जाती है।)

मँझले राजा—(*गेहूँ के दानों को राजमाता के सामने पटक कर भर्राये हुए स्वर में*) माँ, सब हार में झिरी पड़ गई। बीज निकलना भी कठन है।

राजमाता—(*लम्बी साँस लेकर*) तब......तब......तो वसूली भी न होगी।

मँझले राजा—वसूली......वसूली......माँ, लगान तो इस साल सरकार ने मुल्तवी कर दिया।

राजमाता—(*एकदम घबड़ाकर खड़े होते हुए*) मुल्तवी हो गई?

मँझले राजा—हाँ, माँ, आज ही हुकम आया है।

राजमाता—तो सिलापरी गाँव से जो एक सौ बीस रुपया बचते थे, वे भी न आयेंगे?

मँझले राजा—इस बरस तो नहीं, माँ।

राजमाता—फिर हम लोग क्या खायँगे, पियेंगे?

मँझले राजा—पिनसन के सरकार एक सौ बीस रुपया साल देती है न?

राजमाता—सात जीव एक सौ बीस रुपया साल में गुजर करेंगे? महीने में दस रुपये, एक जीव के लिये तीन पैसे रोज!

मँझले राजा—बड़े भाई ने एक उपाय और किया है, माँ!

राजमाता—(*उत्सुकता से*) क्या, बेटा?

मँझले राजा—तुम धीरज रखकर बैठो तो बताऊँ।

राजमाता—(बैठते हुए) जल्दी बता, बेटा, मेरा कलेजा मुँह को आ रहा है।

मँझले राजा—माँ, अकाल के कारन सरकार ने काम खोला है न ?

राजमाता—हाँ, जहाँ कंगाल काम करते हैं।

मँझले राजा—पर जानती हो, माँ उन्हें क्या मिलता है ?

राजमाता—क्या ?

मझले राजा—हमसे बहुत जादा। चार रुपया महीना, एक एक को दो आने रोज।

राजमाता—अच्छा !

मँझले राजा—हम सात हैं। बड़े भाई ने अरजी दी है कि हम सब को अकाल के काम में जगह दी जाय। माँ, वह अरजी मंजूर हो गई तो हम में से एक एक को दो दो आने रोज, सुना, दो दो आने रोज, सब को मिलाकर अट्ठाईस रुपया महीना, तीन सौ छत्तीस रुपया साल, सुना, तीन सौ छत्तीस रुपया साल मिलेगा।

(बड़े राजा का खेत की ओर से प्रवेश। वे अपने भाई से मिलते जुलते हैं। करीब २८ वर्ष की उम्र है। वेष-भूषा उन्हीं के सदृश है। वे अत्यन्त उदास हैं। आकर राजमाता के पास बैठ जाते हैं।)

राजमाता—बेटा, मँझला कहता था कि तूने सरकार को एक अरजी दी है ?

बड़े राजा—(*लंबी साँस लेकर*) हाँ दी थी, माँ।

राजमाता—(*उत्सुकता से*) फिर क्या हुआ, बेटा।मंजूर हो गई ?

बड़े राजा—नहीं।

मँझले राजा—नहीं हुई, तो हम कंगालों से भी बदतर हैं ?

बड़े राजा—इसलिए तो नहीं हुई कि हम कंगालों से कहीं बढ़कर हैं।

राजमाता—बेटा, तेरी बात समझ में नहीं आती।

बड़े राजा—माँ, हमें पिनसन मिलती है, हम महाराजाधिराज राजराजेश्वर संग्रामशाह और महारानी दुर्गावती के कुल के हैं, हमारी बड़ी इज्जत है, हमारा बड़ा मान है, हमारी आमदनी चाहे तीन पैसा रोज ही हो, पर हमें कंगालों की रोजनदारी, दो आना रोज, कैसे मिल सकती है ? हमारी भरती कंगालों में कैसे की जा सकती है ?

(*बड़े राजा ठठाकर हँसते हैं और लगातार हँसते रहते हैं। राजमाता के आँसू बहते हैं और मँझले राजा उद्विग्नता से बड़े राजा की ओर देखते हैं।*)

यवनिका-पतन

समाप्त

स्त्री का हृदय

(श्री उदय शंकर भट्ट)

भट्ट जी सूक्ष्म मनोविज्ञान के पर्यवेक्षक हैं। सेठ गोविन्ददास की भाँति उन्होंने भी बड़े नाटकों के साथ एकांकी नाटकों की सृष्टि की है। उनके नाटकों में मनोभाव सरलता से स्पष्ट होते जाते हैं। पात्रों के अनुरूप भाषा की सृष्टि में तो वे सिद्धहस्त ही हैं। घटनाओं में कौतूहल चाहे न हो किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में भट्ट जी ने विशेष सफलता प्राप्त की है। उनकी दृष्टि व्यक्तिवाद तक ही सीमित नहीं है वरन् वे मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज के भयानक हिंसात्मक रूप को अपनी शक्ति-शालिनी लेखनी से कोमल बना कर धुले हुए कपास का निर्मल और भव्य रूप दे देते हैं।

भट्ट जी ने अधिकतर दुःखान्त नाटकों की सृष्टि की है। वे जीवन में अन्तर्निहित विषमताओं को उभार कर तीक्ष्ण अस्त्र बना देते हैं जो सुख के समस्त वैभव को क्षण में ही नष्ट कर देता है। जीवन की समस्त सात्विक प्रवृत्तियाँ निषाद के बाण से बिंधे हुए क्रौंच पक्षी की भाँति रक्त रंजित होकर भूमि पर तड़पती रहती हैं।

वे करुण परिस्थितियों के कलाकार हैं।

पात्र

मि० कपूर	:	यशवन्त के मामा
यशवंत	:	जगदीशराय का लड़का
गुरुनारायण	:	जेल के सुपरिंटेंडेंट
अंजना	:	यशवन्त की माँ
शोभा	:	यशवंत की बहन
सुषमा	:	गुरुनारायण की लड़की
राजरानी	:	,, ,, स्त्री

साधु, कैदी आदि

स्त्री का हृदय

पहला दृश्य

(एक साधारण गृहस्थ के मकान का कमरा । कमरे की लम्बाई-चौड़ाई १५' × १२' पूर्व की तरफ से पश्चिम को खाट पर एक स्त्री लेटी है । वय लगभग ३३ वर्ष । गौर वर्ण, पर दुर्बल । अभी लम्बी बीमारी से उठी है । दाहिनी तरफ को आमने-सामने दो कुर्सियाँ । उसके पास एक पुराने ढंग का मोढ़ा रक्खा है । कमरे में कोई सजावट नहीं है । सिरहाने की तरफ एक छोटी मेज पर दवा का सामान है । एक शीशे का गिलास, कुछ शीशियाँ, थर्मामीटर, टाइमपीस, ग्लूकोज का डिब्बा, रुई, बोरिक तथा मलहम की डिब्बियाँ । पैरों की तरफ एक लोहे की जालीदार अलमारी पर एक संदूक । खाट के साथ दीवार पर कलेंडर । पूर्व और पश्चिम की तरफ बराबर दो चित्र टँगे हैं, हाफसाइज के फ्रेम जड़े हुए । पूर्व की ओर एक चित्र है इस घर के स्वामी जगदीशराय का और बराबर उसके पुत्र यशवंत का । समय दिन के लगभग दस बजे । पूर्व की तरफ अंजना के भाई मिस्टर कपूर बैठे हुए हैं, उसके सामने जगदीशराय का पुत्र यशवंत । दोनों क्षोभ में भरे बैठे हैं दाँत काटते हुए ऐंठन लिए । स्त्री दूसरी तरफ चुप पड़ी है ।)

मि० कपूर—मैं इस आदमी को पहले से ही जानता था। ब्याह से पहले ही। तभी वो कहते हैं दुष्ट का संग कभी न हो। न जिसके कुल का कोई ठीक न ठिकाना, जरा पढ़ा-लिखा देखा और ब्याह कर दिया। हुश् *(दाँत पीस कर जमीन पर जोर से पैर मारता है)*

यशवंत—*(उसी ढंग से)* हम लोगों का इस मामले में सिर ही नीचा हो गया है। जो देखता-सुनता है, हैरान रह जाता है। और सच तो यह है कि मुझे बार-बार छिपाना पड़ता है अपने आपको।

मि० कपूर—अरे साहब, वह तो कहो कि दूरी की वजह से घर के कुछ आदमियों के सिवा किसी और को कुछ मालूम नहीं हुआ। नहीं तो साँस लेना मुश्किल हो जाता और शर्म के मारे पानी हो जाना पड़ता। कोई बात है ? छिः। *(एक टाँग पर दूसरी टाँग रखता है)*

यशवंत—होस्टल तथा कालेज में सभी जगह मुझे यह बात छिपाकर रखनी पड़ी। दो-दो मुसीबतें एक साथ........।

मि० कपूर—*(स्वस्थ होकर)* अभी तुम्हारा कोर्स कितना बाकी है ?

यशवंत—अब तो सिर्फ प्रैक्टिकल ही बाकी है। सौभाग्य से हमें जहाँ प्रैक्टिकल करने को मिला है वे मेरे मौखिक परीक्षक भी थे। बहुत ही सज्जन आदमी हैं। पंद्रह दिन बाद में फ्री हो जाऊँगा। उसके बाद शायद कोई जगह भी मिल जाय।

मि० कपूर—तो देखो खर्च-वर्च की तंगी न उठाना। घर से मँगा लेना। अंजना का भी ख्याल रखना। शोभा की पढ़ाई का क्या हाल है ?

यशवंत—इस बीमारी में वह सिलसिला तो कुछ खराब जरूर हो गया है।

मि० कपूर—खैर, अब उसकी पढ़ाई ठीक तरह से चल सकेगी। *(अंजना की ओर देखकर)* अब तीन महीने अस्पताल में रहकर ठीक हुई हो। *(पहले जैसा रूप)* गुस्सा तो ऐसा आता है, गोली मार दूँ। अच्छा हुआ दो साल की सजा हो गई बच्चू को। वह तो कहो कि जज ने रियायत की, नहीं तो फाँसी होती! *(अंजना करवट बदलकर उधर देखती है और बातें सुनती है)*

अंजना—*(कठिनाई से हाथ से टाँग उठाकर)* हाय, मालूम होता है यह मेरी टाँग ठीक न होगी। *(कपूर की ओर)* भैया, सचमुच तुमने मुझे बचा लिया। नहीं तो जाने क्या हालत होती हम लोगों की। *(चुप हो जाती है)*

मि० कपूर—हम लोगों का उससे कोई संबंध नहीं है। कैद काटकर आये हुए आदमी की अब यहाँ कोई जरूरत नहीं है।

यशवंत—समाज में उनको साथ रखने से हम लोगों की बदनामी भी है। आखिर हमें भी तो मुँह दिखाना है, मर्यादा से रहना है।

मि० कपूर—सो तो है ही। मेरे यहाँ भी उसका अब प्रवेश नहीं हो सकता।

यशवंत—(*आँखें पोंछकर*) सब से बड़ा अपमान तो हुआ मेरा। इतने बड़े आदमियों से जान-पहचान। आफिसर्स को यदि यह मालूम हो जाय कि यशवंत का बाप दो साल की कैद में है तो शायद नौकरी से भी हाथ धोना पड़े।

मि० कपूर—तो तुम इसका जिक्र ही मत करो। कहो, हमारा कोई नहीं है वह।

अंजना—तुम उनकी चर्चा ही मत करो। किसी को बतलाओ ही मत। मैं तो सचमुच मर ही गई थी। इन बच्चों के भाग से कुछ दिन जीना था जो मौत के मुँह से निकल आई।

मि० कपूर—मैंने तो जिस समय सुना कि जगदीश ने अंजना को मार मार कर अधमरा कर दिया, उसी समय मैंने निश्चय किया कि इस बार उसको फाँसी दिला के ही छोड़ूँगा। इतना पढ़ा-लिखा और इतना बेवकूफ शायद लालटेन लेकर भी ढूँढ़ने से न मिले!

यशवंत—उनकी आदतें तो पहले ही खराब थीं। रोज शाम को दफ़्तर से शराब पीकर लौटते। जुए के लिए माँ से रुपया माँगते। न मिलने पर उन्हें पीटते। एक दिन मुझे ऐसा क्रोध आया कि यदि माँ न रोकतीं, तो मैं मार बैठता। बाप का अर्थ यह तो नहीं है कि किसी की कोई इज्जत ही न करे। और पिछले

छै मास से मैं बोलता थोड़े ही था। *(एकदम चुप-चाप सामने टँगी तस्वीर उतारकर बाहर पटक देता है)* अब इसकी यहाँ कोई जरूरत नहीं है।

मि० कपूर—ठीक तो है, हटाओ इस कूड़े को। ऐसे नालायक को भूल जाना ही अच्छा।

अंजना—और तुम यह देखो भैया कि मेरे पास एक गहना न छोड़ा, सुसराल का तो भला था ही कितना, मेरे पीहर का भी एक-एक करके सब ले लिया; नहीं देती थी तो मारते थे। न जाने हमारे समाज का कानून कैसा है, नहीं तो अब से कभी पहले संबंध त्याग देती। कालेज की डिबेट में मैंने एक बार कहा भी था।

मि० कपूर—नारियों के साथ यह बड़ा अन्याय है। समाज को इसका कोई न कोई प्रतीकार अवश्य करना होगा। ऐसे हत्यारे, जालिम पति को स्त्री के ऊपर अंकुश रखने का कोई अधिकार नहीं है।

यशवंत—यह भी आदमी में बीमारी का एक लक्षण है। यह 'इन्सेनिटी' की एक किस्म है। हमारे यहाँ साइकोलोजी में जहाँ पागल मनुष्यों के लक्षण बताए गए हैं वहाँ बहुत क्रोधी, शराबी, एकदम भड़क उठने वाले आदमियों को भी समाज से दूर रखने को कहा गया है। इसी तरह व्यभिचारी तथा अत्याचारी मनुष्य भी एक तरह के बीमार ही कहलाते हैं।

मि० कपूर—(*हाथ की अँगुलियों पर चुटकियाँ बजाते हुए*) यह सब बातें स्वतंत्र देशों में होती हैं। वहाँ सरकार समाज की व्यवस्था को ठीक रखने के लिए नए-नए स्वास्थ्य-विभाग खोलती है। शादी होने के पहले वरवधू की डाक्टरी परीक्षा भी होती है।

अंजना—लेकिन कालेज में तो वे...जाने दो। (*मुँह फेर लेती है*)

मि० कपूर—तुम क्या जानो स्त्रियाँ सीधी-सादी होती हैं। रूप और बाहरी गुण देखा; बस मुग्ध हो गईं। असल बात तो यह है कि यह कोर्टशिप भी वर-वधू के पहचानने का कोई ठीक उपाय नहीं है। जिस समय तुम लोग इंटर में थे, मैं नवें में पढ़ रहा था। इसलिए किस तरह तुम लोगों की मित्रता प्रारम्भ हुई यह मुझे मालूम नहीं।

यशवंत—नान्सेन्स।

अंजना—हमारे क्लास में तो यह हमेशा फर्स्ट-सेकंड स्टैंड करते रहे हैं। डिबेट में, लेक्चर में हमेशा प्राइज़ पाते रहे हैं। मुझे क्या मालूम कि यह आदमी इतना भयंकर निकलेगा। (*क्रोध से चेहरा लाल हो जाता है*)

यशवंत—उस समय इनके माँ-बाप भी थे?

अंजना—नहीं। ट्यूशन करके पढ़ते थे जी, बड़ी मुसीबतों में। मेरे कहने पर ही पिताजी ने इनका ट्यूशन मुझे रखवा दिया था।

मि० कपूर—आश्चर्य है, इतना बुद्धिमान आदमी ऐसा निकला ?

यशवंत—उसकी एक वजह है, कभी-कभी गरीबी में आदमी की बुद्धिमत्ता भी समाप्त हो जाती है। कभी-कभी जो लोग विद्यार्थी जीवन में बहुत अच्छे होते हैं, बाद में जाकर 'डल' हो जाते हैं। यह भी एक मनोवैज्ञानिक बात है। दिमाग पर अभावों की भी प्रतिक्रिया होती है। अच्छा खाना न मिलने, अस्वास्थ्य कर परिस्थितियों में रहने या चिंता बहुत करने से मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियों का विकास रुक जाता है उनमें न बुद्धि रह पाती है, न स्फूर्ति, न प्रेरणा; और वेग के प्रभाव से तो बुद्धि दूषित हो उठती है। उस समय वे सब ज्ञानतंतु—भाव की इच्छा को पूरा करने के लिए दौड़ते हैं उस अवस्था में मनुष्य न पाप देखता है, न पुण्य, न बुरा, न भला।

मि० कपूर—तुमने तो बहुत कुछ पढ़ डाला है।

यशवंत—यह तो हमारे कोर्स की बातें हैं। हमें यह सब बातें जाननी ही चाहिये। मनोविज्ञान तो हमारे यहाँ का खास विषय है। इसमें व्यक्ति को पहचानने और उसको 'रीड' करके ठीक करने का सदा अवसर रहता है। इसी तरह चोरी करने, झूठ बोलने, गाली देने तथा क्रोध करने की आदतें भी एक तरह से बीमारी में ही गिनी जाती हैं।

अंजना—(*एकदम हाथ जोड़कर*) भैया, तुमने मुझे उबार लिया। नहीं तो जाने क्या हालत होती। तुम्हारी ही कृपा से यह

पढ़-लिख गया है। लड़की भी पढ़ ही जायगी। अब नवें में है। मुझे डर है, कहीं इस साल फेल न हो जाय। मेरा तो भाग ही मरा फूटा है। गहना नहीं, पत्ता नहीं, मकान नहीं, रुपया नहीं, सब उजाड़ दिया। नहीं तो डेढ़-सौ में मजे से गुजर चल रही थी। दो-एक बार मैंने सोचा, लाओ नौकरी कर लूँ, पर नौकरी भी तो नहीं करने दी। कहते थे—'मेरे होते तुम नौकरी क्यों करती हो। पति का कर्तव्य है कमाना और स्त्री का कर्तव्य है गृहस्थी का पालन।' कुछ भी कहो...जाने दो, मैं उस दुष्ट का नाम भी न लूँगी।

यशवन्त—हाँ, मेरे सामने उनका नाम न लो। मैं उनको पिता नहीं कहता। जिसने हमें दर-दर का भिखारी बना दिया। समाज की दृष्टि में गिरा दिया। कभी उनमें कोई गुण होंगे; पर अब तो वे पागल हो गये थे। अच्छे होते तो नौकरी ही क्यों जाती। आज छै मास से खाली बैठे थे। निकाल दिये गये, हमारा दुर्भाग्य!

मि० कपूर—यह ठीक है। पर अंजना भी गलत नहीं कहती यशवन्त! न मालूम इन दिनों उनकी प्रवृत्ति ऐसी कैसे हो गई, आश्चर्य है। कहते हैं, नौकरी उन्होंने साहब से न पटने के कारण छोड़ दी थी। फिर भी घर का खयाल करके ही उस आदमी को कुछ झुकना चाहिये था। असल में शराब ने उसे तबाह कर दिया। अच्छा, पहले तुम यह बताओ, (*टाइमपीस की ओर देखकर*) मुझे अभी बाहर की गाड़ी से जाना है, खर्च का

क्या हाल है! (*जेब से निकालकर*) रुपये तो तुम्हारे पास अब क्या होंगे। खैर लो, ये १००) हैं। इस समय किसी तरह काम चलाओ। (*रुपया देता है*)।

अंजना—नहीं भैया अब रुपयों की जरूरत नहीं है। मैं ठीक होते ही किसी स्कूल में नौकरी कर लूँगी। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। (*शोभा का दलिये की कटोरी और जगदीशराय की तस्वीर हाथ में लिए प्रवेश*)

शोभा—(*जोर से*) यह बाबू जी की तस्वीर बाहर किसने फेंक दी? देखो तो, शीशा टूट गया है।

यशवंत—फेंक दे उधर। यहाँ क्यों ले आई? यह बाबूजी की नहीं, हत्यारे जी की है, जिसने हमारी माँ को पागलपन में आकर मार ही डाला था। ला, मुझे दे। (*लेकर बाहर फेंक देता है*)

मि० कपूर—बेटी, क्या तुझे यह नहीं मालूम कि यह आदमी नहीं, हत्यारा है। वह तो कहो, तुम लोगों के भाग्य थे, जो मौत के मुँह से तुम्हारी माँ निकल आई।

अंजना—दलिया ले आई। (*हाथ में लेकर*) और तुम देखो भैया, कि इस शोभा मरी ने उनका क्या बिगाड़ा था, एक दिन इसे भी पीटते-पीटते अधमरा कर दिया।

शोभा—भाभी, उसमें मेरा कसूर था। (*उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं। दलिया हाथ में देकर एकदम बाहर निकल जाती है।*)

अंजना—देखो यशवंत, तस्वीर......नहीं नहीं हटाओ मेरे सामने से...।

मि०—कपूर अंजना बहन, तुम भी पूरी......। अच्छा, अब तुम कभी मुलाकात को जाओगी क्या ?

यशवन्त—मैंने तो निश्चय किया है, मैं तो ऐसे आदमी का मुँह न देखूँगा। यह क्या ? नोनसेन्स, जिस आदमी ने तुम्हें इतनी तकलीफ दी उसके लिए...... ?

अंजना—नहीं, दलिया गरम था। शोभा हाथ पर धरकर चली गई। मैं क्यों रोती भला ! (*दृढ़ता दिखाती है*)

मि० कपूर—स्टुपिड, अच्छा मैं चला।

अंजना—तो, खाना तो खालो भैया ? दो बजे तक पहुँचोगे। उस समय खाना कहाँ होगा ?

यशवंत—न हो चाय एक प्याला ले लीजिए। शोभा !

मि० कपूर—नहीं, कुछ इच्छा नहीं है। डाक्टर ने काफी खिला पिला दिया है। तुम दवा लो न ?

यशवंत—ग्यारह बजा चाहते हैं। अच्छा यह दलिया खा लो। फिर सही। हर काम टाइम पर ही होना चाहिए। माँ, मामा जी से यह बात तो कह दो।

मि० कपूर—क्या बात है ?

अंजना—हाँ, एक बात तो कहना रह ही गई। यहाँ एक बड़े आदमी हैं शायद। कहीं दफ्तर में सुपरिंटेंडेंट हैं न भैया ! उनकी एक लड़की है।

मि० कपूर—समझ गया।

अंजना—उन्होंने मुझे और यशवंत को एक दिन चाय के लिए बुलाया है। वे यशवंत को बहुत चाहते हैं।

यशवंत—वे हमारे ओरल एगज़ामिनर भी रह चुके हैं। मैंने उन्हें आपका परिचय दिया। आदमी वे बहुत सज्जन हैं। बड़े सभ्य और धनी; उन्हें इतना तो मालूम है कि माँ बीमार हैं। एक बार वे खुद देखने आना चाहते थे। कार लेकर चले भी; पर मैंने ही टाल दिया। यहाँ लाकर कहाँ बिठाता, घर तो आप देख ही रहे हैं।

मि० कपूर—हाँ, बड़े आदमियों के लिए सब सामान बड़ा होना चाहिये। अभी हमारे यहाँ उन दिनों डिप्टी-कमिश्नर आए थे। उस समय उनकी आवभगत में दो सौ तो सफाई में खर्च हो गया। एक हजार लगे पार्टी में। तो हो आओ न?

अंजना—ठीक होते ही जाऊँगी। जाने-आने में नौकरी भी शायद यशवन्त की जल्दी लग जाय। देखूँ, क्या कहते हैं।

मि० कपूर—हाँ, इस लाइन में तो जान-पहचान है नहीं। कमिश्नर से कह सकता हूँ, पर वह भी बड़ा आदमी है, करे न करे।

अंजना—फिर भी अवसर देखकर कहने में हर्ज ही क्या है? तुम्हारा ही लड़का है।

मि० कपूर—अरे तो यह भी कहने की बात है, बहन! अच्छा, कोशिश करूँगा। मैं चला। (*बाहर निकलता है*).

अंजना—(*हाथ जोड़कर*) दया रखना भैया। मुझे तुम्हारा ही आसरा है।

मि० कपूर—(*लौटकर*) न हो चलकर दो चार महीने रह न आओ घर पर। रही तुम्हारी भाभी की—सो अब तो वह भी मान जायँगी। बल्कि उन्होंने मुझसे कहा भी था।

अंजना—अब ठीक होकर ही किसी दिन आऊँगी। (*कपूर चला जाता है। उसके साथ यशवंत भी उठ जाता है। अंजना दलिया देखती रहती है। शोभा आती है*)

शोभा—(*आँखें पोंछकर*) अभी तुमने दलिया नहीं खाया माँ?

अंजना—खा रही हूँ। (*उसके चेहरे की ओर देख कर*) रो रही है पगली? मैं ठीक हो जाऊँगी। हाय, न जाने टाँग को क्या हो गया? डाक्टर कहता था कटवा दो, पर कटवाकर काम कैसे होता, लँगड़ी न हो जाती?

शोभा—(*आँखों में आँसू भरकर*) अब डाक्टर क्या यहाँ रोज आया करेगा?

अंजना—डाक्टर तो क्या आवेगा कंपाउंडर आवेगा ड्रेसिंग करने। कह रहा था दो-चार दिन में चलना शुरू करना। वैसे पहले से तो आराम है।

शोभा—बाबूजी को......

अंजना—हाँ, यह सब तेरे बाबूजी की मेहरबानी है। जान ही लेली थी दुष्ट ने। यदि भाई का घर न होता तो......(*आँखों में आँसू भर आते हैं*) ईश्वर उसे सुखी रखे।

शोभा—अब आटा तो है नहीं, खाना कैसे बनेगा ?

अंजना—हम लोग भिखारी हो गये हैं। नौकरी गई, रुपया गया और खाने के भी लाले पड़ गए हैं।

शोभा—असल में नौकरी छूटने से बाबूजी की आदत खराब हो गई थी। अगर साहब के कहने के अनुसार वे भी चोरी, रिश्वत लेते तो ठीक रहता। इसमें बाबूजी का क्या अपराध था माँ ?

अंजना—फिर भी आदमी को देख-भालकर चलना चाहिए। यदि रिश्वत लिए बिना काम नहीं चलता था तो लेते। मैंने तो कहा कि साहब को खुश रखो, चाहे कुछ करना पड़े।

शोभा—तो तुम बुरे काम के पक्ष में हो। रिश्वत लेना भी तो बुरा काम ही है।

अंजना—*(स्तब्धसी होकर दलिया खाती हुई)* तू इन बातों को क्या समझे ? नौकरी छोड़ने के बाद से घर की क्या हालत हो गई है ? पैसे-पैसे को तंग हैं हम लोग। वह तो कहो, भाई का घर था; नहीं तो कौन जाने भीख ही माँगनी पड़ती। तुम्हारी तो जिंदगी ही खराब हो गई बेटी ! *(शोभा चुप रहती है; खाकर बर्तन खाट के नीचे रखती हुई)* तू बोलती क्यों नहीं है ?

शोभा—(रुककर) क्या ? मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आता।

अंजना—तुझे मेरा कष्ट नहीं मालूम होता ?

शोभा—(*वेग से*) जब बाबूजी कमाते थे तब सब को अच्छे लगते थे। यदि न्याय की रक्षा के लिए उनकी नौकरी छूट गई, उन्हें व्यसन लग गया, तो वे ऐसे कड़ुए हो गए कि किसी को फूटी आँखों नहीं सुहाते। और अब उन्हें जेल भेजकर तो सबका जी ठंडा हो गया !

अंजना—(*क्रोध से*) चुड़ैल, छोटे मुँह बड़ी बातें करती है। क्या हमने उन्हें जेलखाने भेजा है ? मालूम होता है माँ से तुझे कोई ममता नहीं है। उन्होंने जो मुझे मार ही डाला था, और मैं जो तीन महीने अस्पताल में पड़ी रही उसका तुझे कोई दुख नहीं है। दुख तो केवल बाबूजी का है, क्यों ?

शोभा—यदि तुम और भैया चाहते, तो वे बच सकते थे।

अंजना—मेरी इतनी बातों का यही जवाब है ?

शोभा—(*रोकर मुँह फेरती हुई*) क्या जानूँ ? (*उठकर चली जाती है*)।

अंजना—घृणा, ममता, प्रेम...नहीं मैं उन्हें नहीं चाह सकती। नहीं चाह सकती। झूठ है...।

(*परदा गिरता है*)

दूसरा दृश्य

(कोठी में आधुनिक ढंग से सजा हुआ विशाल कमरा । दीवारों पर कई प्रकार की छोटी-बड़ी तस्वीरें, नीचे काश्मीर का बना हुआ मखमली कालीन । दोनों ओर दो सोफा-सेट एक ही रंग के । कानिस्त पर जालीदार कपड़ा, दोनों तरफ धूपदानों में धूप-बत्तियाँ जल रही हैं। बीच में बड़े गुलदस्ते में नर्गिस के फूलों का गुच्छा । कमरे में पूर्व-उत्तर के कोने में छोटी मेजों पर गुलदस्ते रखे हैं । दक्षिण की तरफ बड़ी कोच पर रायसाहब गुरुनारायण बैठे हुक्का पी रहे हैं । कमरे के दरवाजों पर रेशमी जाली के पर्दे उठाये हुये हैं । उत्तर की तरफ के दोनों दरवाजे खुले हैं । सामने बरामदे में दो-तीन मोढ़े रखे हैं । दरवाजों में बेलें फैल रही हैं । एक दरवाजा भीतर के मकान में जाता है । गुरुनारायण ऊँचे कद के दोहरे बदन के व्यक्ति हैं । आयरिश लट्ठे की लौटदार कफ की कमीज और जीन की सफेद पतलून पहने हैं । सिर के बाल सफेद, लंबा भरा मुँह, नोंकदार पतली मूँछें, बदन गठीला, उम्र लगभग चालीस साल । हाथ में अँग्रेजी का दैनिक समाचार-पत्र है । सामने घड़ी टँगी है, जिसमें इस समय आठ बजकर पचीस हो रहे हैं । कभी घड़ी में देखते हैं फिर अखबार पढ़ने लगते हैं । नौकर-चाकर इधर-उधर दबे पाँव आ-जा रहे हैं । गुरुनारायण हुक्के का कश लेते हुए ।)

गुरुनारायण—साढ़े आठ बजने चाहते हैं अभी तक यशवंत नहीं आया ? *(सुषमा कमरे में प्रवेश करती हुई)*

सुषमा—अभी तो नहीं आये बाबूजी। साधु, साधु ! वे बाबू नहीं आये ? *(साधु नौकर का प्रवेश)*

साधु—अभी नहीं आये सरकार।

गुरुनारायण—कौन लेने गया है ?

साधु—सुखराम कार लेकर गया है, हजूर। आते ही होंगे।

गुरुनारायण—देर तो काफी हो गई। रहता कहाँ है ? शायद शहर में ही कहीं रहता है ?

सुषमा—शहर तो बड़ी 'डर्टी' जगह है बाबूजी ! 'ओः हॉरीबल' ! कैसे रहते होंगे वहाँ लोग ? हमारे कालेज में कुछ लड़कियाँ शहर से आती हैं, शहर तो बीमारी का घर है बाबूजी।

गुरुनारायण—हाँ, बेटी। गरीब आदमी शहर में ही रहते हैं। कुछ अमीर लोग भी शहर में रहते हैं।

सुषमा—शहर में इतनी गंदगी क्यों रहती है, बाबूजी ? अभी उस दिन मैं वहाँ गई तो देखा—कहीं कूड़े का ढेर है, कहीं कीचड़ है, कहीं मैला पड़ा है। छोटे-छोटे मकान, तंग, गलियाँ न कहीं हवा न प्रकाश। आखिर भारत के शहर इतने गंदे क्यों हैं ?

गुरुनारायण—हमारे शहरों की पुरानी बनावट ही ऐसी है।

पहले समय के लोग चोरी-डाके के डर से इकट्ठे होकर रहते थे वही नियम सा बन गया है।

सुषमा—तब क्या शहरों में इतने आदमी रहते थे ?

गुरुनारायण—नहीं, पर अब वैसा नहीं है। यह हमारे यहाँ की प्रबंध की कमी है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य इन बातों पर ध्यान नहीं देते। कुछ लोगों की आदतें भी वैसी ही हो गई हैं। उन्हें सफाई से रहने की आदत नहीं है। हमारे यहाँ स्वास्थ्य की शिक्षा का बड़ा अभाव है। लोगों को वैसी शिक्षा ही नहीं दी जाती कि स्वच्छ वायु में सफाई के साथ रहना सीखें। किंतु यशवंत बड़ा होशियार लड़का है।

सुषमा—शहर में रहने वाला कोई भी होशियार कैसे हो सकता है, बाबूजी ? *(राजरानी का प्रवेश, वह बहुत मोटे कद की ठिंगनी स्त्री है)*

राजरानी—होशियार तो हुआ, पर तुम जानो चाय को तो देर हो रही है; मैं कहे दूँ हूँ *(कोच पर धम्म से बैठती हुई)* ऐसे-वैसे के यहाँ मेरी सुखमा, तुम जानो, नहीं जायगी। हाँ, फिर पीछे कहो। यह मानी कि लड़का अच्छा है पर तुम जानो घर-बार तो...अरे साधु, सब तैयार है न ?...सुखमा बेटी कोई अच्छीसी साड़ी पहन ली होती, तुम जानो कि, न जाने उसकी माँ क्या पहन के आ रही होगी। साड़ी तो ये भी... क्या कहो हो...ठीक है न ? क्योंरी सुखमा तू ही बता। *(अपनी साड़ी की ओर संकेत*

करके) कोई बतावे भी तो नहीं है कि कब मैं क्या पहनूँ ? साधु ! देख इधर कूड़ा पड़ा है।

सुषमा—हाँ भाभी, यह साड़ी ठीक तो है।

गुरुनारायण—*(हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं)*

साधु—कहीं भी कूड़ा नहीं है हजूर, सब साफ है।

गुरुनारायण—कैदी आज कितने आये, मेंहदी काट रहे हैं न ?

साधु—जी, चार हैं। दो पानी दे रहे हैं। दो बाग साफ कर रहे हैं।

गुरुनारायण—उनको घर का काम भी सिखाओ।

साधु—जी।

राजरानी—पर मैं कैदियों के घर में काम करने के पच्छ में नहीं हूँ। हाँ, तो मैं कह रही थी न जाने कौन-कौन जात के हैं मरे ! नहीं साधु, घर के काम में उन्हें मत लगाना भैया !

गुरुनारायण—बुरी जात के आदमी तो यहाँ आते ही नहीं। जेलर खुद देखकर भेजता है।

राजरानी—फिर भी जब कैदी हैं तब उनकी जात का क्या ठिकाना ? कैदी, मैं तो कैदी से पहले बहुत डरूँ थी बाबा रे बाबा ! तुम जानो......*(इतने में मोटर का हार्न और टेलीफोन की घंटी साथ सुन पड़ती है,)*

(गुरुनारायण दूसरे कमरे में, साधु तथा सुषमा बाहर चले जाते हैं। कमरे में यशवंत की माँ और यशवंत प्रवेश करते हैं, नमस्ते-नमस्ते

के बाद, यशवंत पास के छोटे कोच पर, उसकी माँ राजरानी के पास, दूसरी ओर छोटे स्टूल पर सुषमा बैठ जाती है)

सुषमा—शोभा बहन नहीं आई।

अंजना—आज उसकी तबियत ठीक नहीं थी।

सुषमा—शहर में कोई स्वस्थ कैसे रह सकता है। बड़ी डर्टी जगह है वह।

अंजना—जहाँ मैं रहती हूँ वह तो साफ है।

राजरानी—शहर, आखिर फिर गंदा तो तुम जानो हैई है। हमसे तो वहाँ एक दिन भी न रहा जाय। जाते ही जी में, तुम जानो, न जाने कैसी मिचलाहट होवे है। न जाने, तुम लोग, लोग कैसे रहे हैं!

अंजना—*(आश्चर्य से)* जी!

राजरानी—हम तो बड़ी साफ हवा में रहे हैं।

अंजना—जी।

राजरानी—शोभा कौन री?

यशवंत—मेरी बहन।

सुषमा—वह हमारे कालेज में पढ़ती है। बड़ी अच्छी लड़की है भाभी।

राजरानी—हाँ, अच्छी तो होवे होगी। ये क्या *(अंजना की तरफ)* बुरी हैं?

सुषमा—बड़ी सीधी है भाभी। इधर उसे बहुत दिनों से देखा भी नहीं है।

अंजना—मैं बीमार थी इसलिए उसे घर पर छोड़ना पड़ा। घर में कोई देखने वाला न हो तो नौकर भी काम नहीं करते।

राजरानी—पर हाँ, हमारी सुखमा तो तुम जानो घर का कुछ भी काम नहीं करती। (*अंजना की ओर*) वैसे जरूरत भी नहीं रहती।

दो नौकर हैं, चार कैदी हैं, दो सिपाही हैं। और कैदी तो हम चाहें जितने बुला लें। पर तुम जानो बीमारी में तो घर का आदमी चाहिता ही है। एक नौकर होगा ?

अंजना—हाँ एक है। काम तो शोभा को भी कुछ नहीं है सिवा पढ़ने के। नौकर तो मेरे भी कई थे पर चोरी के कारण उन्हें निकाल देना पड़ा।

राजरानी—हाँ, चोरी की आदत तो तुम जानो, नौकरों में पड़ी जाय हैगी। हमारा साधु तो अच्छा नौकर है।

सुषमा—सुखराम भी।

राजरानी—हाँ, तो मैं कह रही थी, इसके सिवा यह घर ऐसा वैसा भी तो नहीं है। सरकार का सुभाव भी बड़ा तेज है। वैसे तो हमारे घर भी दसियों नौकर काम करें। जायदाद क्या मरी थोड़ी है ? कितना न जाने, कितना सुखमा बेटी, हाँ, याद आया सात हजार तो मालियाना दें हैं।

अंजना—मेरे भैया के यहाँ भी बड़ा ठाठ बाट है।

राजरानी—हाँ, सो तो होईगा। क्यों न होगा, तुम जानो मेरे

ही पीहर में, 'अरे साधु, चाय वाय लेआ न ! क्यों जी कहते क्यों नहीं हो ? अरे कहाँ गये ?

सुषमा—(*हँसकर*) बाबू जी यहाँ कहाँ हैं भाभी। अभी टेलीफोन आया था न ?

राजरानी—(*हँसकर*) अच्छा। मुझे बातों में ध्यान ही नहीं रहा। हाँ तो मैं कह रही थी, मेरे पीहर में भी बड़ी जायदाद है। यहाँ भी क्या कमी है ? लड़का बिलायत पढ़ने गया है। ये लड़की कालेज में पढ़े है।

अंजना—जी।

राजरानी—तुम जानो यहाँ भी किसी बात की कमी नहीं है। सुखमा ! सरकार को बुलाला। चाय ठंडी हो रही है। टैम भी बहुत हो रही है।

सुषमा—अच्छा। (*कनखियों से यशवंत को देखती हुई बाहर चली जाती है, यशवंत हाथ की उँगलियाँ चटकाता हुआ नीची नजर से सुषमा को देखता है।*)

राजरानी—तुम्हारे यहाँ क्या काम होता है ? वैसे तो कोई बात नहीं है कोई न कोई काम तो होता ही होगा। चाहे जितनी जायदाद हो ! अरे साधु ! सरकार नहीं आये, मरा साधु भी तो नहीं है। अभी उस दिन तबियत खराब हो गई तो डाक्टर पर डाक्टर, हकीम पर हकीम, वैद पर वैद सभी आ गये। इनकी, हमारे सरकार की जान पहचान क्या थोड़ी है ? बड़ा लड़का बिलायत में पढ़े है, दो ही बच्चे हैं ले-दे के। दो और

थे ईश्वर ने उन्हें समेट लिया। क्या किया जाय किसी का क्या बस है! (*आँसू पोंछती है*)

अंजना—शोक तो होता ही है। मेरे तो एक लड़की और यह लड़का है भगवान की दया से।

राजरानी—हां तो मैं कह रही थी भगवान इन्हें बनाए रखे। अरे साधु! साधु! (*अपने आप उठने का उपक्रम करती हुई, पर उठती नहीं है*) कोई भी तो नहीं सुने है। जैसे देह में जान ही नहीं रही है। बीमारी के बाद से क्या खाऊँ-पिऊँ थोड़े ही हूँ। योंही थोड़ासा साबूदाना, एक-डेढ़ गिलास फलों का रस, और सेर-डेढ़ सेर दूध। भूख ही नहीं लगती। पर सबेरे चाय के बिना तो रहा नहीं जाय है। दो फुलके छोटे-छोटे। भूख ही नहीं है। देह में जैसे जान ही नहीं है। रात को नींद, न दिन को चैन। अब तो जीवन भार है (*उठने की चेष्टा करती हुई*) न जाने ईश्वर सबकी सुने है मेरी क्यों नहीं सुनता? सरकार, तुम सरकार को तो जानती होगी? मैं भी उन्हें सरकार ही कहूँ हूँ। बड़ा तेज मिजाज है उनका। नौकर चाकर तो थर-थर... काँपे हैं। तो अब उठना ही पड़ा तुम जानो। इस घर में मेरी कोई भी सुने है?

अंजना—नहीं-नहीं, आप बैठिये, जा तो बेटा यशवंत!

यशवंत—(*जो अबतक अखबार पढ़ रहा था*) हाँ-हाँ, आप बैठिये मैं बुलाता हूँ। (*साधु! साधु! कहता निकल जाता है*)

राजरानी—हाँ तो मैं कह रही थी। क्या कह रही थी ? मेरी याद भी तो बीमारी के बाद से खराब हो गई है।

अंजना—(*खीझकर*) कह तो आप कुछ भी नहीं रही थीं।

राजरानी—कुछ भी नहीं कह रही थी ? (*आश्चर्य से*) शायद न कह रही हूँगी ! पर तुम जानो गृहस्थी में बड़ा धंधा रहे है। वैसे करूँ तो कुछ भी नहीं हूँगी, फिर भी तुम जानो......अरे चाय ठंडी हुई जा रही होगी साधु ! साधु !

(*सब लोग आते हैं, अंजना गुरुनारायण को प्रणाम करती है, नौकर चाय का सामान छोटी-छोटी मेजों पर सब के सामने रख देता है*)

गुरुनारायण—(*अंजना से*) सुना आप बहुत दिन बीमार रहीं ? (*यशवंत की तरफ*) मैंने इससे एक बार कहा भी था। पर यशवंत ने समझा कहीं घर देख आया तो बार-बार चाय पिलानी पड़ेगी। (*हँसते हैं*)

यशवंत—(*नम्रता से*) आपकी कृपा के लिये हम लोग पहले ही आभारी हैं।

गुरुनारायण—कृपा आजकल की सभ्यता में सब से सस्ती चीज है। शायद रूखी कृपा, इसीलिये टाल दिया ?

अंजना—इसने मुझसे एक बार कहा भी था। पर मैंने कहा उन्हें अवकाश ही कहाँ रहता होगा ?

गुरुनारायण—पर मालूम होता है अब हमारे मार्ग में कोई

रुकावट न रहेगी। चाय शुरू कीजिये। (*सब लोग ही आरंभ करते हैं*) तुम्हारी परीक्षा कैसे हुई ?

यशवंत—जी, पर्चे तो अच्छे हुए हैं। देखिये! अब तो रिजल्ट के बाद......

गुरुनारायण—खयाल है रिजल्ट के साथ ही अपाइंटमेंट होगा। (*चाय सिप करके*) अभी जेलर की पोस्ट पर तो डायरेक्टली अपाइंट होना कठिन है। अच्छा देखो।

यशवंत—क्या कोई कमेटी अपाइंट करती है ?

गुरुनारायण—हाँ कई तरह से होता है। इंसपेक्टर जनरल की ओर से भी होता है। क्या आशा है डिवीज़न अच्छा आयगा ? (*चाय पीता है*)

यशवंत—आपका आशीर्वाद हुआ तो। (*टोस्ट खाता है*)

गुरुनारायण—पर जेल का काम है बड़ा वाहियात। जरा सी असावधानी से सारा सर्विस का क्रेडिट समाप्त हो जाता है। और कैदियों की दुनिया तो एक मूर्खों का संसार है। बदमाश, चोर, जुआरी, हत्यारे, डाकू, ठग न जाने किन-किन लोगों से संबंध रखना पड़ता है। और फिर सब से भयंकर हैं राजनैतिक बंदी। पहली श्रेणी के लोगों को तो डाट-डपट, मार-सज़ा से ठीक भी किया जा सकता है पर जैसे इन लोगों में तो जीवन का मोह ही नहीं होता। बात-बात में सत्याग्रह, बात बात में अनशन...(*चाय पीता है*)

यशवंत—लेकिन हम लोगों ने किताबों में तो पढ़ा है कि जेल का अर्थ है मनुष्यों की प्रवृत्तियों में सुधार। सुधार तो होता नहीं है कैदी और बदमाश होकर निकलते हैं। सुना है छिपे-छिपे चोरी, रिश्वत-जुआ सभी कुछ चलता है। *(चाय पीता है)*

राजरानी— *(अपने आप)* भूख तो जैसे रही नहीं है।

गुरुनारायण—हाँ, मतलब तो सुधार से ही है। पर किसको चिंता है कि इनका सुधार हो। नियमों के अनुसार तो यही होना चाहिए कि बंदी को उसकी बुराइयों से छुड़ाकर शुद्ध सामाजिक प्राणी बनाया जाय। पर न तो सरकार को इसका ध्यान है न और किसी को। हम लोगों को तो केवल उसी के इशारे पर चलना होता है। बाहरी रूप सरकार का और है और भीतरी पालिसी और। वैसे जेलों में इण्डस्ट्रियल विभाग खोले जाते हैं उनका असली आशय तो और ही होता है। *(दूसरा प्याला ढाल-कर पीता है)*

यशवंत—क्या हो सकता है ? *(मिठाई का एक टुकड़ा तोड़ कर खाता है)*

सुषमा—भाभी, मेरी साड़ी नहीं आई ?

राजरानी—कह तो रही हूँ मँगा दूँगी।

गुरुनारायण—यही कि तमाम विभाग का खर्च कैदियों के सिर से ही निकाला जाय। जेल में वही आदमी सफल हो सकता है, जो बेदर्दी, अन्याय, अत्याचार को न्याय समझे। मनुष्य के साथ किसी प्रकार की भी दया न दिखावे। दो वाक्यों में ·कैदी

के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि बंदी न तो मरे, न पूरी तरह से जीवित ही रह सके।

यशवंत—और राजनीतिक बंदी ? (*एक टोस्ट को दाँत से कुतरता हुआ*) इनके साथ तो हम लोगों का अच्छा व्यवहार होना चाहिए। लोग कहते हैं ये हमारे देश के नेता और कार्यकर्ता हैं।

गुरुनारायण—हाँ, (*चाय का प्याला रख कर*) क्या कोई सरकार चाहती है कि ऐसे आदमियों को किसी प्रकार की सुविधा दी जाय जो उसकी जड़ उखाड़ देना चाहते हैं ? उनके साथ हमारा व्यवहार बड़ी कुशलता का होता है। हम लोग ऐसे लोगों को इकट्ठा नहीं रहने देते। उनके स्वास्थ्य के संबंध में समाचार भी दबाकर रखते हैं। यदि बड़ा कैदी हुआ तो उसको इस प्रकार कष्ट दिया जाता है कि उसे मालूम भी न हो और वह निकम्मा, बीमार, दुर्बल, सदा के लिए बेकार हो जाय। उसकी 'इण्टरव्यू' रोक दी जाती है। कोशिश करते हैं कि उसे प्रलोभन (*यदि वह आ सके तो*) भी दें और उसे राष्ट्रीय कामों से हटा दें। और भी बहुत बातें हैं जिन्हें बतलाया नहीं जा सकता।

यशवंत—सुना है धारा सभा के किसी अध्यक्ष की स्लोपाइजनिंग किया गया था !

गुरुनारायण—जाने दो इन बातों को। मैं मानता हूँ कैदी का जेल में सुधार होना चाहिए पर यह हमें अभीष्ट नहीं है।

यशवंत—'हमें' यानी।

गुरुनारायण—सरकार को।

यशवंत—(सोचते हुए) जी !

गुरुनारायण—तुम समझते हो तुम इस विभाग में सफल हो सकोगे ?

यशवंत—विश्वास तो है। मैं तो एक ही बात जानता हूँ। डटकर ड्यूटी दी जाय और ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त किया जाय। सर्विस ही मेरा ध्येय है; और राष्ट्र-वाष्ट्र तो किसी और समय की चीजें हैं। 'स्वकार्यं साधयेत् धीमान्।'

गुरुनारायण—हाँ, उन्नति का यही मार्ग है। सरकारी आज्ञा का पालन सब से बड़ा न्याय है। यही प्रत्येक उन्नति चाहने वाले कर्मचारी को ध्यान में रखना चाहिये। मैं जो आज इस पद पर पहुँचा हूँ उसकी सफलता का मूलमन्त्र यही है।

यशवंत—लोग कहते हैं देशवासी होने के नाते हमें हर तरह से उसका ध्यान रखना चाहिए।

गुरुनारायण—देश क्या है ? यदि हम प्रसन्न हैं तो देश प्रसन्न है। अपना घर जलाकर दूसरे के घर की रक्षा करना मूर्खता है। 'आत्मानं सततं रक्षेत्।'

यशवत—मैं भी यही मानता हूँ।

अंजना—पर, देश के प्रश्न को व्यक्ति से ऊपर रखना ही चाहिए।

यशवंत—माँ ! तुम इन बातों को नहीं समझतीं। केवल चिल्लाने से ही देश की रक्षा तो हो नहीं सकती।

गुरुनारायण—हाँ, यह दूसरा मार्ग है। यदि सामर्थ्य हो तो वह भी चुना जा सकता है। साफ बात तो है यह हम लोगों की कमजोरी है। हममें इतना साहस नहीं है कि हम इस कार्य में हाथ डालें। आँख के बिलकुल नीचे पेट ही तो है?

यशवंत—बिल्कुल ठीक, पहले मैं भी यही समझता था पर अब तो देखता हूँ इसमें कुछ भी सार नहीं है।

अंजना—तो देश के उत्थान का कोई प्रयत्न ही नहीं करना चाहिये? क्यों? यह तो हमारा स्वार्थ हुआ।

गुरुनारायण—(*तमक कर चुप रह जाते हैं*)

यशवंत—स्वार्थ साधन तो सब ही करते हैं। हम भी वही करते हैं। नेता भी तो यश के लिए वैसा करते हैं।

राजरानी—सरकार जो कुछ सोचते हैं वह झूठ नहीं हो सकता। (*टेलीफोन की घंटी बजती है*)

गुरुनारायण—(*सुषमा से*) देखो तो बेटी कौन है? ठहरो, रहने दो मैं ही जाता हूँ। (*उठकर चले जाते हैं*)

सुषमा—भाभो! मेरा बाग दिखाओ इन्हें।

राजरानी—हाँ, सुखमा ने एक बाग लगाया है चलो देख आओ। पर तू ही लेजा, क्या मैं भी चलूँ?

सुषमा—हाँ, चलो न भाभी!

अंजना—अच्छा बाग! कुछ फूल-फल भी हैं या......?

राजरानी—नहीं, बड़ा अच्छा है हमारे कैदी वहाँ काम कर

रहे हैं। (*तीनों भीतर के दरवाजे से बाहर हो जाती हैं। यशवंत अख-बार उठाकर पढ़ने लगता है इतने में साधु और एक कैदी सामान उठाने के लिये आते हैं*)

साधु—(*चाय का सामान उठाकर दूसरे पुरुष से*) देख, यह सामान ध्यान से उठा ला। टूट-फूट न जाय।

कैदी—बहुत अच्छा। (*इतने में देखता है कि यशवंत वहीं बैठा है, एकदम हैरानी, आश्चर्य, उत्सुकता, स्नेह से भरकर*) यशवंत !

यशवंत—(*अखबार से दृष्टि हटाकर*) हैं, बाबू जी, तुम यहाँ ? (*खड़ा होकर*) देखो, यह बात किसी को नहीं मालूम होनी चाहिए कि तुम......यह मेरी नौकरी का प्रश्न है... ··सुषमा के साथ . ...तुम तो सेंट्रल जेल में थे ?

कैदी—उस जेल से पिछले सप्ताह मेरा ट्रांसफर हुआ है। ओः बड़ी प्रसन्नता की बात है। तुम घबराओ मत बेटा ! अञ्जना की कैसी तबियत है ? तुम लोगों ने मुझसे मिलने की अर्जी नहीं भेजी ? पिछली बार तो मैं देखता रहा, सब लोगों के मिलने वाले आये। मैं आँखों में...... ।

आँसू भरे बैठा रहा। शोभा कैसी है ? हा ! बहुत दिन देखे हो गये।

यशवंत—सब ठीक है। तुम चुपचाप चले जाओ। भाभी भी हैं।

कैदी—अञ्जना भी आई है क्या ? क्या...एक बार...नहीं रहने दो।

यशवंत—देखो बाबू जी, हम लोगों की लज्जा तुम्हारे हाथ है...(*पास जाकर*) देखो...किसी तरह से भी...यह बहुत बुरा हुआ।

कैदी—(*आवेग को दबाता हुआ*) समझता हूँ, सब समझता हूँ पर जी नहीं मानता। (*एक दम पास जाकर यशवंत का आलिंगन करने लगता है*)।

यशवंत—हैं, क्या करते हो ? कोई देख लेगा। छोड़ो, छोड़ो। छोड़ दो।

(*पिता के आलिंगन से अपने को छुड़ाता है पर वह छोड़ता नहीं है*)

कैदी—(*रोकर*) मैं बड़ा अभागा हूँ। मैंने तुम्हारा सत्यानाश कर दिया। क्या अंजना को (*आवेश में भरकर एक बार फिर यशवंत से लिपट जाता है*) एक बार नहीं देख सकता ? (*यशवंत पिता के बाहुपाश से अपने को छुड़ाता है, इतने में साधु अचानक भीतर आता है और कैदी को उसे पकड़े हुए देखकर कैदी पर टूट पड़ता है, उसे मारने लगता है*)

साधु—बदमाश ! तेरी अभी सारी शरारत निकाल दूँगा। (*धड़ाधड़ उसे पीटने लगता है*) नहीं बाबूजी, आप मत बोलिए, मैं ऐसे लोगों का इलाज जानता हूँ। ले और हमला कर पाजी, सूअर, गधा कहीं का (*फिर पीटता है, कैदी चिल्लाने लगता है आवाज सुनकर गुरुनारायण आते हैं*) यह साला यशवंत बाबू को मार रहा था।

गुरुनारायण—क्यों ?

साधु—सुना है यह हत्यारा है। इसी से इसको जेल हुई है।

गुरुनारायण—(*क्रोध से*) ऐसा ! लगाओ इस साले को, मार-मार कर अधमरा कर दो।

यशवंत—जाने दीजिए इसने मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा। (*आगे बढ़कर छुड़ाने का प्रयत्न करता है*)

गुरुनारायण—(*यशवंत से*) ठहरो, हट जाओ। मैं देखता हूँ मेरे यहाँ आए हुए अतिथि पर आक्रमण !

साधु—मैंने घुसते ही देखा कि इन बाबू को पकड़ कर गिरा रहा है !

(*गुरुनारायण एक बेंत उठाकर चार-पाँच सड़-सड़ मारते हैं, कैदी चिल्लाने लगता है । इतने में दौड़ती हुई सुषमा, अंजना और पीछे हाँफती राजरानी प्रवेश करती हैं; अंजना एक दम कैदी को देखकर*)

अंजना—ठहरो, ठहरो, क्या करते हो ? हाय, तुम्हें किसने मारा। (*एक दम पति के शरीर पर गिर जाती है गुरुनारायण, सुषमा और राजरानी आश्चर्य में भर जाते हैं*)

गुरुनारायण—(*यशवंत की ओर देखकर*) बहुत बुरी तरह मार पड़ी। यह तुम्हारा कौन है ?

यशवंत—(*गुमसुम रहकर*) कोई न......।

अंजना—(*क्रोध से*) कोई नहीं, क्या यह तेरे कोई नहीं है ?

तू ठीक जेलर हो सकेगा बेटा। ठीक, रायसाहब, (*जोर से*) यह मेरे पति हैं पति, इसके बाप। हाय···तुम्हारी यह दशा ! मैं इससे पूर्व ही मर क्यों न गई ? मुझे क्षमा करो। (*एक दम मूर्छित होकर पति के पैरों पर गिर जाती है*)

(*पर्दा गिरता है*)

रपट

(श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी)

श्री द्विवेदी जी कथानकों के निर्माण में विशेष कुशल हैं। इस क्षेत्र में अंग्रेजी नाटक साहित्य का इन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। कला और साहित्य के अध्ययन के फल-स्वरूप इनकी रचनाओं में विचारों की संबद्धता विशेष प्रकार से स्पष्ट हुई है। भारतीय आदर्शों को बुद्धि की कसौटी पर कस कर ये एक स्वस्थ दृष्टि कोण उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। कहीं कहीं किसी विशेष विषय पर इनकी समीक्षा इनके अद्भुत पाण्डित्य की ओर संकेत करती है।

सामाजिक विषयों पर इन्होंने जो नाटक लिखे हैं उनमें परिष्कार की भावना उतनी प्रमुख नहीं है जितनी वस्तु स्थिति के चित्रण की। वे यथातथ्य के प्रदर्शन में विश्वास रखते हैं और पाठकों को निष्कर्ष निकालने के लिए संपूर्ण सामग्री दे देते हैं।

व्यंग्य और विनोद में द्विवेदी जी की विशेष अभिरुचि है। वार्तालाप को अधिक निखारने में उनकी प्रतिभा अधिक क्रियाशील है। कौतूहल के निर्माण में उतनी नहीं। इस प्रकार उनके नाटकों में जीवन के प्रतिदिन के पहलू मनोरंजन के साथ नाना रूप रखकर उपस्थित होते हैं और वे उन्हें बुद्धि की तराजू पर तौलकर पाठकों के मूल्यांकन पर छोड़ देते हैं। द्विवेदी जी ऐसे कलाकार हैं जो जीवन की वास्तविकता के प्रति अग्रसर होने का साहस रखते हैं। उनके नाटकों में कल्पना और कोमलता नहीं के बराबर है।

वे हिन्दी के यथार्थवादी निरूपक हैं।

रपट

स्थान—एक पुलिस नाका; समय—संध्या ६ बजे

(छोटे दारोगा वर्दी में अपनी टेबुल पर बैठे कुछ कागज देख रहे हैं, सामने एक कान्स्टेबल और दीवान जी खड़े हैं। इसी वक्त एक कम उम्र का कान्स्टेबल आकर जंगी सलाम कर खड़ा हो जाता है। छोटे दारोगा कुछ देर बाद अपनी गर्दन उठाते हैं)

दारोगा—क्या है ?

कान्सटेबल—हुजूर, एक साहब बाहर खड़े हैं, कहते हैं आप से कुछ काम है।

दीवान—अम्याँ पहले पूछ तो लिया होता क्या काम है, बस चल दिये सीधे यहीं। देखते नहीं, दारोगा जी जरूरी काम में हैं. कह दो बड़े दारोगा दौरे पर हैं, यहाँ फ़ुरसत नहीं है।

कान्स्टेबल—दीवान जी, यह सब मैं पहले ही कह चुका, पर वह कोई मामूली आदमी तो नहीं मालूम होते। कहते हैं, 'अपने अफ़सर को भेजो, हम तुमसे बात नहीं करेगा।'

दीवान—अफ़सर को 'भेजो' ! कोई लाट साहब तो नहीं है हूँः—देखते हैं ?

कान्स्टेबल—मालूम कोई अफ़सर ओफसर है, साहबी पोशाक, चश्मा लगा है।

दारोगा—(*पहली बार फाइलों पर से सर उठाते हुए*) सवारी क्या है ?

कान्स्टेबल—हुजूर, सवारी तैयार है। कहैं ताँगा, कहैं कोई मोटर पकड़ ल्याई।

दारोगा—(*फाइल पर पेंसिल पटकते हुए*) बस रहे वही। मुझे थोड़े ही सवारी की जरूरत है। वह कम्बख़्त तुम्हारा अफ़सर किस सवारी पर आया है। ख़ैर, वह ख़ुद ही चले आ रहे हैं।

(*ठीक इसी समय एक सूटबूट धारी सज्जन एक दूसरे सिपाही के साथ दारोगा के कमरे में यकायक घुस पड़ते हैं; सब चौंक जाते हैं। वह सज्जन यों कहते हुए घुसते हैं*—)

सज्जन—माफ़ कीजियेगा, आपही यहाँ के—

दारोगा—(*कुछ घबराकर उठते हुए और सामने की कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए*) जी, मैं यहाँ का सब इन्सपेक्टर......

सज्जन—अह... सब इन्सपेक्टर तो देख ही रहा हूँ; और क्या इन्सपेक्टर जनरल आप थोड़े ही हो सकते हैं! छोटे, या बड़े, या दीवान, आप ठीक क्या हैं सो बताइये; और मैं किस सवारी पर आया हूँ यह जानने के लिए आप क्यों मुश्ताक़ हो रहे थे सो भी कृपा करके बता दीजिये।

(दोनों बैठते हैं, दारोगा भी धीरे धीरे बैठता है और सिपाहियों को बाहर जाने का इशारा कर देता है, दीवान जी मुसकुराते हुए बैठते हैं और कोट की जेब से बटुआ निकालते हुए पान-सुपारी का डौल शुरू करते हैं)

दारोगा—(*कुछ हाकिमाना सुर में*) मैं इस वक्त यहाँ का इनचार्ज हूँ, आप अपना मसरफ़ बताइये।

सज्जन—मसरफ़ बताने तो आया हूँ, पर ठीक मालूम तो हो जाय आप की पोज़ीशन।

दारोगा—मेरी पोज़ीशन से आपको कोई सरोकार नहीं, आपको सिपाही ने बताया होगा कि बड़े दारोगा साहब टूर पर हैं।

सज्जन—वो क्या 'बड़े' और क्या 'छोटे,'...दोनों एक ही पौदे के दो फूल हैं; आकार-प्रकार में कुछ मामूली फ़र्क हो सकता है पर खुशबू वही होती है।

दारोगा—जनाब, मैं ज़रूरी काम में हूँ, आप अपना मतलब मुख्तसर में बताइये।

सज्जन—जनाब, बिना किसी मतलब के थोड़े ही आप लोगों के पास आने की हिमाक़त कोई कर सकता है। मुझे एक रपट लिखानी है ; डायरी खोलिये।

दारोगा—(*एक कागज खींचते हुए*) बोलिये, पहले अपना नाम बताइये।

सज्जन—मेरा नाम है रामकुमार 'चौबे' सिर्फ 'चौबे' काफ़ी है। इतने ही से इस शहर का बच्चा-बच्चा मुझे बता देगा; यह क्या, लंदन और पेरिस वाले भी बता देंगे।

दारोगा—ओह, तो आप लन्दन, पेरिस की हवा भी खा आये हैं।

चौबे—'हवा,' हवा आपही लोग खाते-खिलाते हैं। मैं दस बरस कॉन्टिनेन्ट में रहा हूँ, दस बरस; सिर्फ पैदायश इस मुल्क की है।

दारोगा—ओफ् ओह, पर आप चौबे जी......

चौबे—'चौबे' नाम से आप क्यों चौंकते हैं। (*धीरे से*) हम लोग क्रिश्चियन् हैं; जो हो, पर यह ओफ् ओह नहीं, वाक़या है। आप विलायत के किसी एक शहर में मेरा नाम लीजिये, जादू का सा असर होगा। दो-चार हजार रुपये तो सिर्फ मेरे नाम से आप को मिल जायँगे, हाँ लाख-दो-लाख लेना हो तो दस्तखत की जरूरत हो सकती है।

(*दारोगा और दीवान में परस्पर एक अर्थ-पूर्ण दृष्टि-विनिमय और हास्य*)

दारोगा—अच्छा, आप चटपट अपना 'केस' बताइये, मुझे फुरसत नहीं ?

चौबे—'फुरसत' ? आप लोगों को और काम क्या ? आपकी नौकरी ही इसी काम के लिए है, और आप कहते हैं फुरसत नहीं है, मैं जब पेरिस में था ....

दारोगा—(कुछ खीझकर) जनाब आप यहाँ की कहिये, आपके पेरिस के तजुर्बों से मुझे कोई सरोकार नहीं है।

चौबे—है क्यों नहीं, मेरा केस ही ऐसा है ।

दारोगा—अच्छा तो फ़ौरन कहिये।

चौबे—कहता हूँ। मेरी शादी हो चुकी है।

दारोगा—समझ गये, आगे चलिये।

चौबे—कैसे समझे?

दारोगा—यही जो आपने बताया।

चौबे—अच्छा ख़ैर! पर आपने यह नहीं पूछा कि मेरी शादी हुई क्योंकर।

दारोगा—जनाब, इन बातों से मुझे क्या मतलब, आप अपना बयान कहिये।

चौबे—इसी शादी के सिलसिले में ही सब केस हुआ करते हैं यह शायद आपको नहीं पता। आप अभी नये मालूम होते हैं इस लाइन में; कितने दिन की सर्विस हुई आपकी?

दारोगा—आप अजीब आदमी जान पड़ते हैं, काम की बात कहते नहीं सिर्फ़ ख्वा म ख्वाह हमारा मग़ज़ चाट रहे हैं।

चौबे—जनाब, सब बड़े आदमी अजीब जान पड़ते हैं। आप पेरिस में मेरा नाम……

दारोगा—होंगे आप बड़े मशहूर, पर मुझे तो आपका नाम सुनने का इत्तिफाक हुआ नहीं अभी तक, हालाँ कि आज चार बरस से यहाँ हूँ।

चौबे—आप सुनेंगे कहाँ से; अभी तो चार रोज हुए, दस बरस बाद विलायत से लौट रहा हूँ।

दारोगा—माफ कीजियेगा, या तो आपका दिमाग खराब है या मेरा, पर मिहर्बानी करके कोई रिपोर्ट लिखानी हो तो बोलिये वरना अपना. ...

चौबे—बोल तो रहा था, पर आप ही बीच में दूसरी बात छेड़ देते हैं तो मैं क्या करूँ; क्या समझे? कहाँ तक कहा था मैंने?

दारोगा—खाक पत्थर समझे! अच्छा तो आपकी शादी हुई, फिर?

चौबे—शादी क्या सीधे हुई! अभी शादी कैसे हुई सो समझ लीजिये तब आगे बढ़िये। क्या समझे?

दारोगा—अय खुदा...!

चौबे—आप मजहब परस्त आदमी जान पड़ते हैं, पर पुलीस-सर्विस और मजहब...!

दीवान—बाबू साहब, आप फिजूल सरकारी वक्त जाया कर रहे हैं, आप थोड़े में जो कहना हो...

चौबे—ठहरो जी, तुम अपना काम देखो, हाँ तो मैं क्या कह रहा था, ...शादी! हाँ तो मैं इतनी जल्दी शादी थोड़े ही करना चाहता था, मैं तालीम के लिए विलायत जाना चाहता था, सब तैयारी हो चुकी थी कि मेरे माता-पिता ने—क्या समझे...?

दारोगा—आपकी शादी के लिए मजबूर किया।

चौबे—बिलकुल ठीक समझा आपने। पर जनाब मेरे भी कुछ अरमान थे, ऐम्बिशन थे, मेरा एक फ़्यूचर था। अभी से एक बीबी के गले मढ़ मैं सब पर हड़ताल फेरना क़तई मुनासिब नहीं समझता था पर मेरे वाल्दैन……

दारोगा—जनाब, ज़रा मुख्तसर करिये बराह करम।

चौबे—क्या ख़ूब! वाल्दैन को भी कभी मुख्तसर किया जा सकता है। तो ग़रज़ कि शादी हो ही गई। सोहागरात के मौक़े पर मैंने अपनी बीबी को ग़ौर से देखा। वह थी वाक़ई ख़ूबसूरत। याने आप कोई आइडिया नहीं कर सकते, हालाँ कि उसकी उम्र ज़्यादा नहीं थी पर……क्या समझे?

दारोगा—पर केस तो बताइये।

चौबे—वाक़ई दारोगा जी, आप कोई तबीयत नहीं रखते, वरना इस मौक़े पर ऐसा न कहते। जब कि कहानी में एक सुन्दर स्त्री का प्रवेश हो गया तो फिर केस में क्या विलंब, अब आया समझिये।

दीवान—तो फिर कह डालिये जल्दी से।

चौबे—फिर तुम बोले, साहब इनको यहाँ से ज़रा……क्या सम………

दारोगा—अच्छा तो आपकी बीबी ख़ूबसूरत थी, फिर?

चौबे—मामूली ख़ूबसूरत? हज़ारों लाखों में एक! उर्वशी, तिलोत्तमा तारा, मंदोदरी…अच्छा ख़ैर जो भी हो, पर उसकी ख़ातिर भी मैंने अपना भविष्य चौपट करना मुनासिब नहीं

समझा, यानी विलायत जा के ही रहा। पर जाने से पहले बीबी को एक उपहार देना जरूरी था। मैं उसी दिन २०) का एक लेडी शू खरीद लाया और कह गया कि इसे पहरना और याद रखना।

(इसी वक्त एक सिपाही एक शराबी को पकड़ कर लाता है)

शराबी—यह क्या उस्ताद ! घर पहुँचा देने का वादा कर यह ससुराल क्यों लिवा लाये ?

सिपाही—चुप रहो। हुजूर, यह ताड़ी पीकर गली में हंगामा मचा रहा था।

शराबी—अरे दोस्त इस तरह काटने क्यों दौड़ते हो ?

दारोगा—क्यों बे, नशा पीकर मुहल्ले में खुराफ़ात क्यों मचा रहा था ?

शराबी—साहब, मरने के लिए और क्या बताऊँ।

दारोगा—यह मरने का शौक़ क्यों सवार हुआ यकायक ?

शराबी—यकायक क्यों, यह तो आज बीस बरस से है, घरवाली के कारन।

दारोगा—घरवाली क्या तुझे जीने नहीं देती ?

शराबी—न जीने देती है, न मरने देती है। क्या बतावें, इन बाल बच्चों के कारन—

दारोगा—कितने बच्चे हैं तेरे ?

शराबी—ठहरिये ज़रा हिसाब लगा लूँ। कल्लू, घसीटा,

भरिहर, सुखिया, नोहरी. खिलौना, मुसइया, नोखे, गम्मा, गुदई, कुल तेरह होंगे हुजूर।

दीवान—अपरे बाप, तब भी ताड़ी पीता है सूअर !

शराबी—तो फिर क्या करें हुजूर, कहिये फिर घर ही जाँय।

दारोगा—अच्छा जा बे जा, बदमाशी मत किया कर—हाँ तो फिर क्या हुआ चौबे साहब !

(सिपाही धकियाता हुआ उसे बाहर निकाल देता है)

चौबे—फिर क्या, अब केस आही गया—क्या समझे—यानी अभी उस रोज जब मैं विलायत से लौटा तो अपने घर की तलाश की। पता लगा कि माता-पिता कब के गुजर चुके हैं और बीबी लापता है। घर में दूसरों का क़ब्जा है। खैर, फिर तलाश करना शुरू किया। अभी उस रोज पता लगा कि यहीं, आपके थाने के पास, एक कोठी में रहती हैं। बस फिर क्या था, मैं सीधे ऊपर चढ़ गया। वह अपने ड्राइंग रूम में सोफे पर बैठी कोई अखबार पढ़ रही थीं। पहले से भी खूबसूरत और खूब बनी-ठनी। पहले तो मुझे देख कर कुछ चौंक सी गईं। फिर यकायक तैश में आकर मेरे ऊपर झपट सी पड़ीं, कहती हुई, 'किसके हुक्म से तुम यहाँ अंदर आये ?' मैंने कहा, 'अपने घर में किसी के हुक्म की क्या जरूरत !' इस पर साहब उन्होंने आव देखा न ताव एक लेडी शू लेकर—वही जिसे मैं प्रेजेंट कर गया था—गिन गिन कर १० जूते लगाये (चौबे *सिसकियाँ भर रोने लगता है)*

दारोगा—क्या कहा ? बीस रुपये में दस जूते ! चौबे साहब, मुझे आपके साथ सख्त हमदर्दी है, पर आपका केस यहाँ के लायक नहीं है, आप किसी वकील से राय लेकर तलाक़ की कार्रवाई कीजिये।

चौबे—सो तो होगा ही, पर एक बात और हुई, वह भी सुन लीजिये। जब वह जी भर कर जूते बरसा चुकीं इसी वक्त कहीं से एक नौजवान छोकरा घुसा, कहता हुआ, 'What is, the trouble darling !' बीबी ने कहा, 'देखो तो चार्ली, यह यकायक मेरे कमरे में घुस आया और मुझे·········' यह कह कर सिसकियाँ भरने लगीं, और इस कदर लड़खड़ाईं कि जान पड़ा अब गश आने ही वाला है। उनके इस चार्ली नाम के दोस्त ने उन्हें सँभाला और हिफ़ाज़त के साथ सोफे पर लिटा दिया, और मेरी ओर कुछ देर घूरने के बाद बोला, 'देखो डियर, यह कोई बदमाश जान पड़ता है। मैं कई दिन से इसे चक्कर लगाते हुए और इस हवेली के अंदर ग़ौर से झाँकते हुए देख रहा हूँ। मैं अभी इसे पुलीस में······ज़रा डिक भी आ जाय, वह ड्रिंक्स लाने गया है न···?' बस जनाब वह सब सुन कर तो मेरे देवता कूच कर गये और मैं उलटे पाँव भागा वहाँ से और आप के थाने पर पहुँच कर ही साँस ली। जाने टाम, डिक, हैरी कितने हों उनके दोस्त तो मेरे सिर में एक बाल भी ··क्या समझे·· ···?

दारोगा—मैं सब समझ गया, पर मुझे अफसोस है कि

मैं इतने से केस नहीं खड़ा कर सकता, आप कोर्ट जाइये, मजबूरी है।

चौबे—मुझे क्या करना होगा यह मैं ही देख लूँगा, आप यह कहिये कि आप लोग इस केस को ऐप्रिशिएट नहीं कर सकते। अगर कोई लंदन का पुलीस आफिसर होता......क्या समझे ?

दीवान—तो आप लन्दन ले जाइये न अपना मामला !

चौबे—(उठकर चलते हुए) मैं जहन्नुम में जाऊँ, आप लोगों की ल्याक़त तो देख ली न।

दारोगा—अच्छा अच्छा आदाब अर्ज़ है।

(चौबे का प्रस्थान; दारोगा एक सिगरेट जलाता है, दोनों खूब हँसते हैं, इतने ही में बाहर एक मोटर का हार्न, फिर कुछ लोगों के जरा सरगर्मी के साथ बातें करते हुए कमरे की ओर आने का शब्द। बातें कुछ अँग्रेज़ी कुछ हिन्दुस्तानी में हो रही हैं। साथ ही वही पहले वाला सिपाही कुछ उत्तेजित सा आता है)

सिपाही—हुजूर एक मेम साहब और कई साहब लोग कुछ झगड़ा सा करते हुए आ रहे हैं। मैंने रोकना चाहा, पर डैम, फूल' कह कर डाँट दिया और......

(इतने में एक महिला और तीन-चार नवयुवक खिचड़ी बातें करते हुए दारोगा के आफ़िस रूम में फट पड़ते हैं। देवी जी अत्याधुनिक परिपाटी से सुसज्जित हैं, बाब्ड हेयर, भौं कमानीदार पतली

छँटी हुई, क्रेप साड़ी, गहरी लिपस्टिक, रूज़, पाउडर, चेहरा अस्वाभाविक तमतमया हुआ, हाई हील लेडीज़ सैंडिल। पुरुष सब आधुनिकतम स्टाइल के कटे-सिले कोट, पैंट, टाई, कालर आदि से लैस। महिला करीब २२ साल की युवती)

युवती—(*दारोगा से, जो हड़बड़ा कर उठ खड़े होते हैं और सलाम कर लेते हैं*) आप ही यहाँ के…

दारोगा—जी मैं यहाँ का सब इन्सपेक्टर इनचार्ज हूँ।

युवती—आपका ऑफ़िसर कौन है ?

(*दीवान जी एक कोने में ठिठक जाते हैं और दो एक सिपाहियों से कुछ कानाफूसी करने लगते हैं। अभी तक सब खड़े हैं*)

दारोगा—जी इस वक्त तो मैं ही हूँ, बड़े दारोगा टूर पर हैं।

युवती—तो आप से होगा ? मैं एक कमप्लेन्ट लॉज करना चाहती हूँ।

दारोगा—तो आपकी फ़रियाद सुने बग़ैर मैं कैसे कह सकता हूँ।

युवती—(*कुछ रुक कर अपने एक साथी से*) तो इन से कहना ठीक होगा ? क्यों डिक् ?

डिक्—ज़रा रिस्की है।

चार्ली—पर रिपोर्ट तो करना है ही।

दारोगा—हाँ हाँ, आप बेख़ौफ़ कहिए, पर आप तशरीफ़ तो रखिये।

युवती—बग़ैर ऑफ़र किए मैं कैसे बैठ सकती हूँ।

दारोगा—ओं, ज़रा गल्ती हो गई, पर बैठ जाइये—आप लोग भी तशरीफ़ रखिए।

युवती—(बैठती हुई) थैंक्स, ज़रा पानी मिल सकता है? ओफ़ बड़ी गरमी है।

दारोगा—(चकरा कर) है तो यह सर्दी का मौसम, पर आप कैसा पानी चाहती हैं, हाथ-मुँह धोने का?

युवती—ह्वाट् डू यू मीन्?

दारोगा—यानी पीने के लिए या......

युवती—आफ़कोर्स पीने के लिए; और क्या यहाँ नहाना है।

कई साथी एक साथ—ऑफकोर्स; ऑफकोर्स।

दारोगा—तो क्या लेमोनेड मँगवा दूँ या सादा पानी?

युवती—लेमोनेड! तो क्या आजकल सरकार ने ऐसा इंतजाम कर दिया है या आप अपने पास से···

दारोगा—जी नहीं, अपने पास से ही। ऐ सिपाही, घुरे के यहाँ से चार बोतल लेमोनेड। अच्छा, अब अपनी शिक़ायत फ़र्माइये।

युवती—शिक़ायत क्या, मेरे हज़्बेंड ने मेरे सोने के कमरे में क्रिमिनल ट्रेसपास किया है।

दारोगा—(कुछ चकरा कर) ऐसा भी कभी हुआ है, शौहर को तो अपनी बीबी के कमरे में जाने का हक़ ही है; और कोई हो तो।

युवती—जी नहीं, मैं बीवी हूँ तो क्या हर वक्त थोड़ी ही रह सकती हूँ। मेरी अपनी भी एक हस्ती है, रात दिन के चौबीस घंटे में, कुछ देर माँ, कुछ देर साथिन और एक खास वक्त तक ही मैं बीवी या वाइफ़ बन सकती हूँ।

साथी—हियर हियर।

दारोगा—माफ़ कीजिएगा, मैं समझा नहीं।

युवती—ठीक है, आप लोग कैसे समझ सकते हैं। देखिए, मैं समझाती हूँ। सुबह आठ से बारह बजे तक जब मैं अपने कुत्तों और चिड़ियों वग़ैरह को खिलाती पिलाती हूँ तब मैं माँ रहती हूँ; फिर शाम को तीन से दस बजे तक अपने इन दोस्तों के साथ, टेनिस क्लब या सिनेमा की सैर को जाती हूँ तो मैं साथिन रहती हूँ; इसके बाद वाइफ़ हो सकती हूँ सो अगर चाहूँ तो।

डिक्—दैट्स दि पॉयंट; वेल सेड् डार्लिंग। पर ज़्यादा एक्साइटेड मत हो डियर; तुम्हारी तबीयत खराब हो जायगी।

चार्ली—जस्ट पॉसिबल्! और डियर, ज़ोर ज़ोर से मत बोलो; तुम्हारा गला पड़ जायगा; यू आर सो डेलीकेट!

युवती—(*लेमोनेड पीकर*) तो लिखा आपने दारोगा जी?

दारोगा—जी, लिख रहा हूँ, पर अपना नाम तो मिहर्बानी करके बता दीजिए।

युवती—मेरा नाम मिसेज आर० चौबे......

दारोगा—(*चौंककर*) ओफ़! तो आपने भी तो १० जूते

रसीद किए अपने शौहर की गुस्ताख़ी पर। मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया।

(युवती और उसके सब साथी एकबारगी सन्नाटे में आकर एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं, युवती चीख पड़ती है)

युवती—गुड ग्रेशस गॉड् ! वह भी यहाँ पहुँचा था क्या ?

दारोगा—जी हाँ, वह आपके नाम 'क्रिमिनल एसाल्ट' की रपट लिखा गये हैं।

युवती—माई लार्ड ! पर मैंने नौ जूते ही तो मारे थे, उसने दस क्यों लिखाया ? अच्छा डिक्, टाइम क्या है—अभी पिक्टर-ड्रोम भी तो चलना है, या मूनलाइट बोटिंग ? पर मुझे तो गश आ रहा है, स्मेलिंग सॉल्ट प्लीज़ !

(डिक् और चार्ली लपक कर उसे अपने कंधों के सहारे सँभाल लेते हैं)

डिक—स्टेडी डियरी, आज न्यू इयर्स की बोटिंग है। वहाँ नाव पर सब सामान तैयार है। फिर वहाँ से पिक्टर ड्रोम—

चार्ली—स्मेलिंग सॉल्ट कार में है, बक्अब डार्लिंग।

(सब उसे हाथोंहाथ बाहर ले जाते हैं, दारोगा, दीवान वग़ैरह का हँसते-हँसते बुरा हाल)

दीवान—दारोगा जी ! इस मुहक़मे में मैंने बाल सफेद कर डाले पर ऐसा केस आज ही देखा।

(पहले वाला सिपाही हँसता हुआ भीतर आता है)

सिपाही हुजूर एक बात है। अभी मालूम भवा है। आज़

ईसाई लोग का बड़ा त्योहार है, ई सब लोग आपुस के मजाक में ई सब तमासा कर रहे हैं, सब खूब खाए पीये-मौज करते हैं।

दीवान—खाये चाहे हों या न पर 'पीये' सब जरूर हैं, वो मेम साहब भी और उनके मियाँ भी।

दारोगा—क्या खूब मजाक था, और यह मजाक मेरे ही सर मढ़ना था—पर अब सब बातें समझ में आ गईं। आपने क्या समझा दीवान जी ?

दीवान—साहब समझा क्या यही कि खूब पीये मस्त हैं सब मौज उड़ा रहे हैं।

दारोगा—उँ···हूँ···आप अभी नहीं पहुँचे। यहाँ न कोई किसी का शौहर था, न कोई किसी की बीबी। वह जो चौबे बना था, वह इन्हीं टॉम डिक् में से एक था, पहला अप्रैल या क्रिसमस वगैरह के मौकों पर ये लोग अक्सर इस तरह के 'प्रैक्टिकल जोक' करते हैं।

दीवान—आँ········ ··यँ !

———

माँ-बाप

(श्री विष्णु प्रभाकर)

श्री विष्णु प्रभाकर रेडियो की टैकनीक से प्रभावित एकांकी नाटककार हैं। राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत होकर इन्होंने पात्रों में मानसिक द्वन्द्व उपस्थित करने की कला प्रदर्शित की है। जीवन से वे ऐसी घटनाओं का चयन करते हैं जिनमें जीवन के बलिदानमय क्षण झाँक सकें और ऐसे क्षणों को पात्रों के चरित्र में रखकर वे एक आदर्शवाद की सृष्टि करते हैं। विष्णु प्रभाकर जी में घटना को उपस्थित करने की वैसी प्रेरणा नहीं है जैसी मनोविज्ञान के निरूपण करने की। उनके संवाद भी कर्म भूमि में भाग लेने वाले पात्रों की मनोवृत्ति के अनुरूप उत्साह और उमंग से भरे हुए होते हैं।

विष्णु प्रभाकर जी द्वारा जीवन के आदर्शवादी दृष्टिकोण की विवेचना सुंदर और मार्मिक ढंग से हुई है।

पात्र

अशोक—कालिज का एक विद्यार्थी
यदुनाथ—अशोक का सहपाठी
दामोदरस्वरूप—अशोक का पिता
रामदास—यदुनाथ का पिता
अमृतराम—देश के प्रसिद्ध नेता
कलावती—अशोक की माँ
जगवन्ती—यदुनाथ की माँ
अनिता—अशोक की बहन
डाक्टर, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र आदि कुछ युवक

माँ-बाप

प्रथम दृश्य

(एक छोटे कस्बे में एक विशाल भवन का भीतरी भाग । अलग-अलग उसमें अनेक कुटुंब बसते हैं । इस समय वहाँ सन्नाटा है । कभी-कभी किवाड़ खुलने या बोलने की आवाज सुन पड़ती है ।

इसी भवन के ऊपरी भाग में एक छोटा-सा कमरा है । अनुपात से सामान उसमें बहुत है । कपड़ों के तीन ट्रंक, दो चीड़ की बेड, साइड टेबुल, तीन मोढ़े और तीन चारपाई । ऊपर की दीवार पर केवल नये साल का एक कैलेन्डर लटका है । एक अलमारी है; उसमें कुछ पुस्तकें टीन के डब्बे, दो चाय-दानियाँ और दो-तीन गिलास हैं । ऊपर आले में सस्ती टाइमपीस पौने आठ बजा रही है ।

कमरे के बीच में तीनों चारपाइयाँ पास-पास बिछी हैं । बिछावन साधारण है । दरवाजे के पास वाली चारपाई पर एक स्त्री अनमनी-सी बैठी है । उसका रंग गोरा और आकृति सुन्दर है । उमर लगभग ४५ है । दूसरी चारपाई पर एक पुरुष आँखें बन्द किये लेटा है । उसे ज्वर चढ़ा है । क्षण-क्षण में जाग कर वह स्त्री की ओर देख लेता है । फिर लम्बी साँस लेकर आँखें मीच लेता है । उसकी आयु ५० के ऊपर

है। तीसरी चारपाई पर एक लड़की कम्बल ताने गहरी नींद में सोई है। सहसा स्त्री चौंक कर उठती है। नीचे कहीं तीन-चार आदमी बोलते सुन पड़ते हैं।)

स्त्री—(*खुश होकर*)—जान पड़ता है अशोक आ गया !

पुरुष—(*आँखें खोलकर*) अशोक आ गया है ? कहाँ है ?

स्त्री—आप उठे क्यों ? लेट जाइए। मैं देखती हूँ।

(स्त्री शीघ्रता से चली जाती है। पुरुष उसी तरह बैठा रह जाता है। स्त्री फिर आती है।)

स्त्री—(*घबराकर*) आप अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं करते। अशोक नहीं आया है। राम बाबू देहली जा रहे हैं। अशोक की छुट्टियाँ आज से शुरू होती हैं। शायद कल आयेगा।

(वे चुपचाप आँखें बन्द कर लेते हैं। स्त्री अपनी खाट पर आ बैठती है।

पु०—(*आँखें खोलकर*) सुनती हो ?

स्त्री०—क्या जी !

पु०—पंडित रामसेवक ने अशोक का वर्ष-फल बनाया है। कहता है इस वर्ष ग्रह बहुत सुंदर हैं, जल्दी ही उसका नाम संसार भर में फैल जायगा।

स्त्री—(*प्रसन्नता से भर कर*) सच !

पुरुष—पंडित रामसेवक माने हुए ज्योतिषी हैं। उनकी बात झूठ नहीं हो सकती और देखो न अभी से उसका नाम अखबारों में छपने लगा है।

(कहते-कहते पुरुष की छाती उमड़ती है। बोल नहीं सकता)

स्त्री— *(श्रद्धा से)* पुत्र के भाग के साथ माँ-बाप की किस्मत जुड़ी होती है।

पुरुष—*(गदगद हो कर)* कुछ भी हो दुनिया इस बात को जान लेगी कि दामोदरस्वरूप ने आप मुसीबतें उठायीं परंतु लड़के को शिक्षा देने में कसर न रखी।

(इसी समय पास की चारपाई पर लड़की बड़बड़ा उठती है)

स्त्री, पुरुष—*(एक साथ चौंक कर)* क्या है अनिता ! क्या है बेटी ?

लड़की—*(नींद में)* भइया...*(जोर से)* भइया तुम कहाँ जा रहे हो ! *(करुणा से)* मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, भइया *(जोर से)* ओ भइया......

स्त्री—*(पास जाकर)* अनिता-अनिता !

अनिता—*(हड़बड़ा कर)* माँ !

स्त्री—क्या है बेटी ?

(अनिता उठ बैठती है। वह लगभग १५ साल की सुन्दर लड़की है। घबराहट के कारण इधर-उधर देखती है। पर माँ को देखकर ढाढ़स होता है)

स्त्री—*(पास बैठ कर)* सपना देखती थी बेटी ! क्या था।

अनिता—बड़ा बुरा सपना था, माँ ! भइया न जाने कहाँ चले गये ?

स्त्री—*(मुसकरा कर)* कहाँ चले गये, अनिता !

अनिता—माँ ! एक वाटिका में मैं और भइया बैठे थे कि एक युवक ने आकर कहा—'अशोक ! लड़ाई आरम्भ हो गयी। वे पागल हो उठे हैं। आओ हम चलें' भइया उसी वक्त दौड़ पड़े। मैंने कहा—'कौन लड़ रहा है, भइया नहीं बोले। और वे चले गये, उसी तरह नंगे पाँव और निहत्थे ! (*कुछ रुक कर*) भइया नहीं आये, माँ !

स्त्री—कल सबेरे आयेगा, बेटी !

पुरुष—(*सोचकर*) सपने का फल अच्छा होगा ! डरने की बात नहीं।

स्त्री, अनिता—(*एक साथ*) सच ! अच्छा होगा ?

पुरुष—हाँ ऐसे सपनों से उमर बढ़ने का योग होता है।

अनिता—तब तो ठीक है माँ ! (*मुड़ कर*) ज्वर कैसा है पिताजी ?

पुरुष—(*हँस कर*) उतर जायगा बेटी ! (*कुछ आहट पाकर ऊपर देखते हैं*) रामदास आओ रामदास ! कैसे आये ?

रामदास—ज्वर उतरा भइया !

दामोदरस्वरूप—उतर जायगा ! हाँ यदु आया क्या ?

रामदास—वही तो पूछता था ! अशोक भी नहीं दिखाई पड़ता। क्या बात है ? घर में तो रो-रो कर पागल हो रही है।

दामोदरस्वरूप—तुम्हारी स्त्री बड़ी कच्ची है ! अरे ! वे क्या बालक हैं जो खो जायँगे !

रामदास—यह तो मैं भी जानता हूँ भइया ! पर वह नहीं सुनती ! कहती है—तुम जाओ !

स्त्री—वह माँ है, रामदास ! माँ का दिल बड़ा पापी होता है !

रामदास—और तुम क्या हो भाभी ?

दामोदरस्वरूप—अरे रामदास ! यह कम नहीं है। घंटों से गाड़ी की गड़गड़ाहट कानों में गूँज रही है। और यह अनिता तो सोते-सोते भी भइया-भइया चिल्ला रही थी। *(हँसता है)*

रामदास—(*पिघल कर*) भइया ! साल में एक बार तो आते हैं !

(दामोदरस्वरूप आँखें मीच लेता है। रामदास उठ कर चला जाता है। अनिता फिर मुँह लपेट कर लेट जाती है। केवल स्त्री (कलावती) उसी तरह बैठी रहती है। घड़ी में नौ बजे हैं। वह झुक कर चारपाई के नीचे से एक टोकरा निकाल लेती है। उसमें सूत की कुकड़ियाँ और अटेरन रखा है। कलावती चुपचाप सूत अटेरती है)

पटाक्षेप

दूसरा दृश्य

(समय संध्या के पाँच बजे हैं। वही विशाल भवन ! नीचे के एक दालान में कलावती रसोई के प्रबन्ध में लगी है। अशोक अब तक नहीं आया। चिट्ठी आयी है "कि शहर में अशान्ति है, हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई का भय है। आप लोग चिन्ता न करना हमें बिलकुल

डर नहीं है ।" पर यहाँ सब चिन्ता कर रहे हैं। यदु की माँ (जगवन्ती) तो रो-रो कर पागल हो रही है। कलावती भी उद्विग्न है। दिल उसका भी धक्-धक् कर रहा। उसी समय जगवन्ती वहाँ आती है। वह ४० के लगभग है। रोते-रोते उसका चेहरा फीका पड़ रहा है)

जगवन्ती—तुमने सुना, भाभी! वहाँ लड़ाई हो रही है। अब क्या होगा ?

कलावती—ठीक होगा, जगवंती! कॉलेज तो शहर से दूर है।

जगवन्ती—तुम नहीं जानतीं भाभी, कॉलेज दूर होगा पर वे जरूर गये होंगे।

कलावती—तुम आप ही सोच लेती हो कि वे गये होंगे। कॉलेजवाले क्या उन्हें जाने देंगे!

जगवन्ती—चाहती तो मैं भी हूँ कि वे न गये हों पर भाभी, मन नहीं मानता। मैं क्या करूँ ? *(रोने लगती है)*

कलावती—*(हँस कर)* अरे, तुम रोने लगीं! कितनी कच्ची हो तुम!

(रामदास को देखकर) क्या है जी! क्या खबर आयी ?

रामदास—*(बोलते हुए हाँफता है)* अखबार आया है!

जगवन्ती, कलावती—*(एक साथ)* अखबार! क्या लिखा है अखबार में!

रामदास—*(पढ़ता है)*......शहर में बहुत जोर का दंगा हो गया है।

कलावती—ओह !

जगवन्ती—कॉलेज का कुछ नहीं लिखा !

रामदास—*(उसी तरह पढ़ता हुआ)* नगर काँग्रेस कमेटी दंगा रोकने का प्रयत्न कर रही है। उसने सरकार के साथ सहयोग किया है, लेकिन सब से बढ़ कर कॉलेज की पार्टी है......।

कलावती, जगवन्ती—*(एक साथ काँप कर)*—काँलेज की पार्टी .....

रामदास—*(उसी तरह)* मानवता के पुजारी १५ नव-युवक पागलों की तरह आग में बढ़े चले जा रहे हैं। उन्होंने सैकड़ों बे-गुनाह आदमियों को मरने से बचा लिया है। उनका सरगना एक खूबसूरत और तगड़ा जवान है। उसका नाम अशोक है...।

कलावती—*(काँपकर)* अशोक ! मेरा अशोक !!

जगवन्ती—लेकिन यदु का नाम नहीं है। वह जरूर उसके साथ होगा। वह अशोक को नहीं छोड़ सकता।

कलावती—*(अनसुना करके)* अशोक अब नहीं आयेगा। अशोक का नाम......

(वह बोल नहीं सकती उसका हृदय उमड़ कर बह पड़ता है)

रामदास—*(ढाढ़स के स्वर में)* भाभी ! रोती हो ! नहीं भाभी, जो पुण्यात्मा हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

जगवन्ती—भगवान् !...भाभी मैं कहती थी मेरा दिल घबड़ा रहा है। मैं जानती थी। बेटा माँ के दिल ही में तो रहता है।

भाभी ! तुम रोती हो लेकिन मैं क्या करूँ···मैं, क्या करूँ ?
(रामदास) सुनते हो मैं जाऊँगी ! मैं अभी जाऊँगी........।

रामदास—कहाँ जाओगी ? वहाँ के रास्ते बंद हैं !

कलावती, जगवन्ती—*(एक साथ)* रास्ते बंद हैं !

रामदास—हाँ भाभी ! अब तो हमें परमेश्वर से ही प्रार्थना करनी चाहिए।

जगवन्ती—*(रोती हुई)* परमेश्वर...परमेश्वर...!

कलावती—*(हठात् स्वस्थ होकर)* रोओ मत, जगवन्ती ! रोना पाप है।

(अनिता का हाँफते-हाँफते प्रवेश)

अनिता—माँ ! क्या भइया लड़ाई में चले गये।

कलावती—*(दृढ़ता से)* हाँ बेटी ! तुम्हारे भइया ने यदु के साथ सैकड़ों जानें बचायीं। वे सकुशल हैं।

अनिता—*(रामदास से)* सचमुच क्या चाचाजी ?

रामदास—सच बेटी ! यह अखबार है तू पढ़ ले न ?

(अनिता अचरज से पढ़ती है। आँखों में पानी भर आता है। जगवन्ती पागलों की तरह उसे देखती है। रामदास भी उमड़ते हुए हृदय से आँसू रोकता है। केवल कलावती मुसकराती है। अनिता एकदम पढ़ना बन्द कर देती है।)

अनिता—चाची ! तुम रोओ मत। मैं पिता जी से जाकर कहती हूँ कि भइया ने बहुत सुन्दर काम किया है।

(अनिता झपट कर जाती है । कलावती और रामदास भी पीछे-पीछे जाते हैं)

जगवन्ती—(*रोती हुई*) ये लोग कितने कठोर हैं पर मैं क्या करूँ! जिस दिन अशोक और यदु मुझे आकर प्रणाम करेंगे उसी दिन मैं समझूँगी परमेश्वर ने बड़ा काम किया है। नहीं तो ······नहीं······ओह मैं भी क्या करूँ?

(वह फूट-फूट कर रो उठती है । परदा गिरता है)

तीसरा दृश्य

(समय प्रातः ८ बजे । स्थान दामोदरस्वरूप का वही कमरा। वे लेटे हैं तीन ही दिन में उनकी दशा एक जन्मरोगी सी हो गयी है। मुख पीला पड़ गया है। उठते-उठते गिर पड़ते हैं। पास ही कलावती बैठी है।)

दामोदर स्वरूप—रामसेवक पंडित की बात कितनी ठीक हो रही है। बच्चा-बच्चा अशोक का नाम लेता है।

कलावती—ऐसे पुत्र पाकर हम धन्य हुए। न जाने हमने कितने पुण्य किये होंगे···।

दामोदरस्वरूप—मैं चाहता हूँ उड़ कर उसके पास पहुँच जाऊँ और छाया की तरह उसके साथ लगा रहूँ (*हठात् चौंक कर*) कौन?

(*आवाज सुन पड़ती है*) माँ, पिता जी! यदु भइया आये हैं। माँ·····

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ) अनिता ! यदु !!

(*अनिता का प्रवेश, वह हाँफ रही है*)

अनिता—माँ, पिताजी ! अभी यदु भइया आये हैं। वे कहते हैं, भइया कुशल हैं।

कमलावती और दामोदरस्वरूप—(*एक साथ*) कहाँ हैं यदु ? यदु कहाँ है ? (*उठने की चेष्टा करते हैं।*)

अनिता—नहीं, नहीं ! आप उठिए नहीं, पिताजी, वे यहीं आ रहे हैं।

(*यदु का प्रवेश। जगवन्ती और रामदास भी हैं। यदुनाथ २० वर्ष का साँवला युवक है। उसके हाथ में चोट लगी है पर वह खुश है। सबको प्रणाम करता है।*)

कमलावती और दामोदरस्वरूप—(*एक साथ मिलकर*) तुम जुग-जुग जिओ, बेटा ! जीते रहो, बेटा !

दामोदरस्वरूप—अशोक कैसा है, यदु ?

यदुनाथ—सब ठीक है, ताऊजी ! उन्होंने ही मुझे भेजा है कि आप लोग दुखी न हों। स्टेशन तक साथ आये थे। शीघ्र ही शांति होने पर वे भी आवेंगे।

दामोदरस्वरूप—अभी तक लोग लड़ रहे हैं ? कैसे हैं वहाँ के आदमी !

यदुनाथ—आदमी तो हमारे जैसे ही हैं ? पर कभी-कभी आदमी के भीतर का राक्षस जाग पड़ता है।

रामदास—परमात्मा की लीला है, बेटा! जो वह चाहता है वही होता है।

यदुनाथ—(*एकदम तेज होकर*) आपके इस परमेश्वर ही ने तो सब अनर्थ किया है। जो परमेश्वर आदमी को आदमी का रक्त पीने की प्रेरणा दे उसे हम नहीं मानते। इस परमेश्वर ने इतनी सुन्दर पृथ्वी पर इतने भयानक आदमी क्यों पैदा किये·········?

रामदास—(*सकुचा कर*) लेकिन बेटा! उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। और वह सब भले के लिए करता है।

यदुनाथ—(*उसी तरह*) यदि वह सब भले के लिये करता है तो क्यों आप लोग पागलों की तरह रोते हो! क्यों नहीं परमेश्वर का विधान मान कर वीर पुरुषों की तरह उत्सव मनाते कि तुम्हारे पुत्रों ने मरती हुई मानवता की रक्षा की है?

दामोदरस्वरूप, रामदास और कलावती—(*एक साथ*) तुम क्या कहने लगे, बेटा। नहीं-नहीं, बेटा! पागल यदु क्या बकने लगा।

जगवन्ती—(*रोती-रोती*) तू क्या जाने माँ-बाप का दिल कैसा होता है?

यदुनाथ—जानता हूँ माँ! मेरे लिये तुम्हारे प्राण निकल रहे हैं। अशोक को माँ तुम चाहती होगी पर माँ क्या तुम जानती हो, हमारे साथ और कितने माँ के लाल हैं। उनमें सिक्ख हैं,

मुसलमान हैं। उनके लिए क्या तुम्हारी आँखों से पानी का एक बूँद भी टपका ? और जाने दो माँ यदि मैं आकर तुम से कहता —माँ ! आदमी आदमी के खून से होली खेल रहा है। मैं उसे रोकने जा रहा हूँ तो क्या तुम जाने देतीं।

(*सब एकदम चुप रह जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है*)

यदुनाथ—बोलो पिताजी ! क्या तुमने हमें कायर नहीं बना डाला। तुम्हारी करुणा, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी विशालता सब स्वार्थ की क्षुद्र सीमा में बँधे हैं।

कलावती—यदु ! तुम क्या कहने लगे ! तुम्हें किसने बताया कि हम नाराज हैं। हमें तुम पर इतना गर्व है कि छाती फटी जाती है। बेटा ! ये प्रेम और अभिमान के आँसू हैं लेकिन कहो तो तुमने क्या किया ?

यदुनाथ—(*शान्त होकर*) हमने क्या किया यह हम नहीं जानते। अशोक ने जो कहा वही किया। वे आयेंगे तो सुना देंगे।

कलावती—अशोक सुनावेगा ? नहीं यदु ! वह भी क्या बोलना जानता है ?

यदुनाथ—(*नम्र होकर*) तुम ठीक कहती हो, अशोक भइया बोलना नहीं जानते। लेकिन ताई ! कर्मशील पुरुषों के वाणी होती ही नहीं, अच्छा ! मैं यही कहने आया था कि हम सब कुशल हैं, आप लोग चिन्ता न करें। मैं अभी जाऊँगा !

जग, राम, दामो, अनि—(*एक साथ*) अभी ! अभी जाओगे ! इसी वक्त ! अभी !

यदुनाथ—हाँ, अभी ! मैं अधिक देर नहीं ठहर सकता। उन लोगों को छोड़ कर क्या मुझे यहाँ बैठना सोहता है।

जगवन्ती—लेकिन बेटा······!

यदुनाथ—लेकिन-वेकिन कुछ नहीं माँ ! मैं जरूर जाऊँगा। तुमने मुझे देख लिया। दूसरे बेटों की माताएँ भी तो तरस रही होंगी ! पिताजी··· !

रामदास— चौंककर) मैं कहता था कि गाड़ी शाम को···

यदुनाथ—(*बीच ही में*) यह कैसे हो सकता है, पिताजी ! मैं इसी गाड़ी से जाऊँगा।

रामदास—(*उद्विग्नता को रोककर*) अच्छा, अच्छा ! मैं अभी जाता हूँ (*एक क्षण रुक कर*) मैं कहता था कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ तो······।

जगवन्ती—हाँ, हाँ, तुम जरूर चले जाओ।

यदुनाथ—नहीं पिताजी ! केवल मैं जाऊँगा और अभी जाऊँगा। आप अभी ताँगा मँगा दीजिए !

(*ताँगा मँगाने के लिए रामदास जाता है*)

यदुनाज—(*हँसकर*) इस धर्म ने आदमी को आदमी का खून पीना सिखाया है। इस ईश्वर ने ही हमको कायर बना दिया है !

जगवन्ती—लेकिन मैं कहती थी तू खाना तो खा ले।

यदुनाथ—नहीं माँ ! (*एक क्षण रुककर*) अच्छा ! चलो !

(जगवन्ती जल्दी से चली आती है)

यदुनाथ—*(उठकर)* मैं अब जाऊँ ?

दामोदरस्वरूप—*(अनसुनी करके)* यदु बेटा ! क्या सचमुच अशोक का नाम लोग श्रद्धा से लेते हैं ?

यदुनाथ—हाँ ताऊजी ! अशोक भइया ने वह काम किया है जो बड़ी-बड़ी आत्माएँ नहीं कर सकतीं ।

दामोदरस्वरूप—सचमुच तुम ऐसा समझते हो यदु !

यदुनाथ—मैं कहता हूँ अशोक भइया सदा के लिए अमर है ।

दामोदरस्वरूप—*(गद्‌गद् होकर)* तुम जुग-जुग जीओ, बेटा ! *(एक क्षण रुककर)* कुछ भी हो दुनिया कहेगी दामोदर गरीब था लेकिन सन्तान के प्रति उसने अपना कर्तव्य पूरा किया ।

(तभी रामदास की आवाज सुनाई देती है—'यदु ! ताँगा आ गया है, यदु उठता है । अनिता और कलावती भी उठती हैं)

यदुनाथ—नमस्कार ताऊजी !

दामोदरस्वरूप—परमात्मा तुम्हें कुशल से रखे, बेटा ! तुम जल्दी लौट आना ।

(कलावती उसे छाती से भर कर माथा चूम लेती है । आँखों में पानी भर आता है । यदु चुपचाप बाहर निकल आता है । केवल अनिता साथ आती है)

अनिता—यदु भइया ! तुम उन सबसे कहना कि तुम्हारी बहिन अनिता को तुम जैसे भाइयों पर बड़ा गर्व हो रहा है।

वहाँ से लौटो तो एक बार यहाँ अवश्य आना मैं बाट देखूँगी, अच्छा !

(अनिता बड़ी शीघ्रता से यह सब कुछ कह गयी उसकी आँखें भर आयीं पर वह मुसकरा उठी। यदु उसे कुछ कहे कि वह झपट कर लौट गयी वह देखता ही रह गया।)

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

(वही विशाल भवन ! वही दामोदरस्वरूप का कमरा। अब उसमें केवल एक चारपाई है। उस पर उनका एकमात्र बेटा अशोक लेटा है। उसे खूब तेज बुखार चढ़ा है। उसके सिर, हाथ और पैरों पर पट्टियाँ बँधी हैं। पट्टियों पर जगह-जगह लहू चमक आया है। उसकी आँखें बन्द हैं।

दामोदरस्वरूप कुण्ठित, मलिन उसके सिरहाने की तरफ फर्श पर बैठे हैं। कलावती पागल सी बेटे को देख रही है। अलग कोने में अनिता है जो क्षण में गम्भीर और क्षण में द्रवित हो उठती है !

फर्श पर दामोदर के पास रामदास, जगवन्ती, यदु और पाँच छः नवयुवक बैठे हैं। वे सब दुःख और सुख के फाँसे में फँसे अशोक की ओर देख रहे हैं।

डाक्टर भी है। वह गौर से अशोक की परीक्षा कर रहा है)

डाक्टर—(*गम्भीर होकर*) मैं इन्हें होश में ला सकता हूँ परन्तु········।

दामोदरस्वरूप—परन्तु क्या डाक्टर साहब्।

डाक्टर—मैं कहता था रात गुजर जाती तो ठीक था।

दामोदरस्वरूप—डाक्टर साहब ! मैं गरीब हूँ पर अशोक के लिए जो कहोगे वही करूँगा। जो माँगोगे वही दूँगा। दुनिया नहीं कह सकेगी कि दामोदर बेटे के लिए कुछ करने में झिझका था।

डाक्टर—नहीं ! मैं यह नहीं सोचता। अशोक के लिए मैं कुछ कर सका तो धन्य हूँगा।

एक युवक—डाक्टर ! मुझे अचरज है, भइया के प्राण कहाँ अटके हैं।

दूसरा युवक—ये अकेले ही तो स्टेशन से लौट रहे थे कि पाँच सौ मजहबी दीवानों ने घेर लिया।

तीसरा युवक—डाक्टर ! जिसने सैकड़ों जानें बचाई उसका यह अन्त !

(सहसा अशोक आँखें खोल देता है)

अशोक—(*क्षीण स्वर में*) माँ !

कलावती—(*अतिशय गद्‌गद् होकर*) हाँ बेटा !

अशोक—कौन रोता था, माँ ! तुम थीं ! तुम रोओ नहीं। मैं अच्छा हो जाऊँगा और न भी हुआ तो भी तुम रोना मत। एक के बदले असंख्य अशोक तुम्हें मिलेंगे, माँ !

कलावती—मैं नहीं रोती, बेटा ! मैं रोऊँगी क्यों ?

अशोक—अनिता कहाँ है ?

अनिता—(चौंककर) भइया !

अशोक—अनिता ! तूने बुलाया था न ? हम आये हैं, क्या कहती है तू ? आरती करनी होगी ? जा बुला ला अपनी सखियों को और अपने जी की निकाल ले……!

(अशोक फिर आँखें बन्द कर लेता है। देश के प्रसिद्ध नेता डाक्टर अमृतराम प्रवेश करते हैं।)

अमृतराम—कहाँ है, अशोक ?

दामोदरस्वरूप—(*उठकर*) इधर है इधर। आप आप यहाँ आइए। (*प्रफुल्लित होकर*) अब डर नहीं है। आप आये हैं। परमेश्वर ने आपको भेजा है। आप जरूर अशोक को बचा लेंगे।

अमृतराम—आप अशोक के पिता हैं ?

दामोदरस्वरूप—(*गर्व से*) जी हाँ ! मैं अशोक का पिता हूँ। वह माँ है; वह बहिन अनिता है। ये मित्र हैं। मैं अशोक के लिए कुछ भी उठा न रखूँगा !

(अमृतराम गम्भीर होकर अशोक की जाँच करते हैं। उनका चेहरा चिन्तित हो जाता है।)

अमृतराम—अच्छा हो यह रात शांति से बीत जाय।

अशोक—पिताजी ! (*अशोक आँखें खोल देता है।*)

दामोदरदास—तुम बोलो मत, बेटा !

अशोक—यदु कहाँ है ?

यदुनाथ—(*आगे बढ़ कर*) मैं यहाँ हूँ।

अशोक—तुम जानते हो यदु, हमने क्या प्रतिज्ञा की थी? मेरे माँ बाप को मालूम न होने देना कि अशोक अब दुनिया में नहीं है।

यदुनाथ—(*चुपचाप नीची गरदन करके आँसू टपकाने लगता है*) तुम ऐसा क्यों कहते हो अशोक!

(*अशोक नहीं बोलता। सब फिर चिन्तातुर होकर एक दूसरे को देखते हैं*)

अमृतराम—(*हठात् चौंक कर*) पक्षी उड़ना चाहता है!

कलावती, दामोदरस्वरूप, अनिता—(*घबरा कर एक साथ*) क्या आ-आ?

रामदास, जगवन्ती—(*एक साथ*) आप देखिए तो डाक्टर साहब!!

अमृतराम—(*सिर हिला कर*) देख तो रहा हूँ खेल समाप्त हो चुका है। एक दिव्यात्मा पृथ्वी पर उतरी थी आज लौट गयी!

(*सब हठात् पिघल उठते हैं। कलावती हा-हा करके अशोक से चिपट जाती है। जगवन्ती उसे सम्हालती है*)

दामोदरस्वरूप—(*सहसा जाग कर*) क्या करती हो कलावती! रोती हो! अशोक ने कहा था रोना मत और तुम अशोक की बात टालती हो।

(*कलावती नहीं सुनती। उसकी छाती फट गयी है। उसकी वाणी कमरे, दिवारों को कँपा देती है। सब सोये हुए से उठते हैं। अमृतराम बाहर निकल जाते हैं*)

कलावती—(*बिलखती*) मैं माँ हूँ माँ। मेरा सिर मेरा माँस ....

दामोदरस्वरूप—लेकिन मैं बाप हूँ। अशोक का बाप हूँ। अशोक वीर पुत्र था। मैं वीर पुत्र का वीर बाप बनूँगा! सुनो यदु, रामदास, अनिता, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र! तुम सब सुनो! मुझे अशोक पर गर्व है। मैं दुनिया को कहने का मौका न दूँगा कि अशोक जैसी महान् और दिव्य आत्मा का पिता दामोदरस्वरूप रोया था। मैं हसूँगा!

(*सचमुच दामोदरस्वरूप बड़े जोर से हँस पड़ता है*)

अनिता—(*जोर से रोकर*) पिताजी! पिताजी!!

दामोदरस्वरूप—(*अनिता को छाती में भर कर*) अशोक की बहिन होकर रोती है! तुझे अशोक चाहिए न! देख कितने अशोक हैं। यदु, अनवर आदि-आदि सब तेरे अशोक हैं और अनिता यह अखंड भारत अनेक अशोकों से भरा पड़ा है, फिर तू क्यों रोती है!

(*दामोदरस्वरूप फिर हँस पड़ते हैं। सब युवक हतप्रभ उस दुबले-पतले अधेड़ पुरुष के साहस को देखते हैं। सहसा यदु आगे बढ़ कर कलावती को उठा लेता है*)

यदुनाथ—माँ! तुम हम सब की माँ हो! हमें आशीर्वाद दो, माँ! भारत के समस्त पुत्र अशोक के पद-चिह्न पर चल सकें।

शम०, रामदास, अनिता, और अनवर—(*एक साथ बोलते हैं*)

माँ! हम मानव के रक्त को व्यर्थ न जाने देंगे।

माँ! मानव के रक्त से हम नयी मानवता को जन्म देंगे।

माँ! हम सारे हिन्दुस्तान में अशोक ही अशोक पैदा कर देंगे!

माँ! तुम नये हिन्दुस्तान की माँ हो!

(*सहसा कलावती उठ कर उन्हें देखती है। उसकी आँखें चमक उठती हैं। दामोदरस्वरूप धीरे-धीरे अशोक के बालों में उँगली फेरते हैं। अमृतराम अन्दर आते हैं।*)

अमृतराम—बाहर अपार जनता है यदु! अशोक को ले चलो!

दामोदरस्वरूप—(उठ कर) चलिए डॉक्टर साहब हम तैयार हैं!

(*और वे स्थिर गति से बाहर चले जाते हैं। उन्होंने कुहनी उठाकर आँखें पोंछ ली हैं। रामदास उनके पीछे जाता है। उसकी आँखें गीली हैं।*)

(*परदा गिरता है*)

कानून

(श्री चन्द्र किशोर जैन)

श्री चन्द्रकिशोर जैन हिन्दी के उदीयमान नाटककार हैं। इन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाटकों की रचना करने में सफलता प्राप्त की है। जीवन के चारों ओर जो असत् का आतंक है, उससे चरित्र को बचाने का प्रयत्न इनके नाटकों में निरंतर हुआ है। इन्होंने प्रायः जीवन की समस्याओं को उनके भयानक और वीभत्स रूप में न लेकर संकेत रूप में ही लिया है और घटनाओं में कलात्मक अनुभावों की सृष्टि की है।

श्री चन्द्रकिशोर जैन के मनोवैज्ञानिक प्रयोग सफल हैं और इनकी रचनाओं में मानव चरित्र के परिष्कार की यथेष्ट सामग्री है।

कानून

(पहला दृश्य)

स्थान—सेठ विलासराय का दफ्तर।

(कमरा पुराने व्यवसाइयों के ढंग पर सजा हुआ है। दीवार पर एक दूसरे के बहुत समीप "रावी ऐंड कम्पनी" की पौराणिक तस्वीरें लगी हुई हैं। एक बड़ा सा फर्श बिछा हुआ है, बीच में मखमल का कालीन है और उस पर दो बड़े तकिये रक्खे हैं। सामने की टाइमपीस में साढ़े दस बज रहे हैं।)

इस कमरे में इस समय दर्शनलाल के अतिरिक्त और कोई नहीं। वे इस फर्म के प्रधान मुनीम हैं—उम्र लगभग ६० वर्ष, दुबला पतला इकहरा शरीर, मध्यम कद, आधी मूँछें और मुँह में पान। सन्दूकड़ी पर कुछ कागज रक्खे, वे हिसाब जोड़ने में व्यस्त हैं। उनका चश्मा नाक की नोक पर रक्खा हुआ है।)

दर्शन—पाँच और बारह, सत्रह; सत्रह और नौ, छब्बीस; छब्बीस और ग्यारह, सैंतीस के पाँच आने, हाथ में दो रुपये......

(मक्खन चपरासी का प्रवेश। दर्शनलाल उसे घूरकर देखते हैं)

दर्शन—क्या बजा है, मक्खन ?

मक्खन—(*घड़ी देखकर*) दस बजकर पैंतीस मिनट।

दर्शन—और दफ्तर आने का क्या समय है ?

मक्खन—दस बजे।

दर्शन—फिर दस बजकर पैंतीस मिनट होने का कारण ?

मक्खन—आज ही देर हो गई है। आइन्दा ख्याल रक्खूँगा।

दर्शन—हाँ, भविष्य में ध्यान रहे। सेठ जी के आने के पहले सबको यहाँ आ जाना चाहिये। (*अन्दर कमरे की ओर देखकर*) चमनलाल भी अभी तक नहीं आया। नाक में दम कर रक्खा है तुम लोगों ने (*मक्खन बाहर चला जाता है! दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने लगते हैं*) हाथ के दो रुपये, दो रुपये, (*मक्खन फिर प्रवेश करता है और कुछ कहने की चेष्टा करते हुए भी चुप रह जाता है। दर्शनलाल इस बाधा से क्रुद्ध हो उठते हैं*) क्या है ?

मक्खन—एक साहब अन्दर आना चाहते हैं।

दर्शन—एक साहब ?

मक्खन—जी नहीं, एक औरत।

दर्शन—एक औरत ?

मक्खन—जी हाँ, बाबू चमनलाल से मिलना चाहती है।

दर्शन—कह दो, वे अभी नहीं आये हैं।

मक्खन—यह मैंने उनसे कह दिया है। (*प्रस्थानोद्यत*)

दर्शन—और सुनो, यह भी कह दो कि यह दफ्तर है, स्त्रियों से मिलने का स्थान नहीं।

मक्खन—मैंने यह भी कह दिया है। कहती है कि बहुत जरूरी काम है. बिना मिले वापिस नहीं जायेंगी।

दर्शन—(*सोचकर*) अच्छा, उन्हें यहां भेज दो।

मक्खन—बहुत अच्छा।

(*मक्खन चला जाता है। दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने लगते हैं। कुछ क्षण पश्चात् एक क्षुब्ध-सी युवती प्रवेश करती है—बहुत दुबली, पतली और दुःखियारी सी। उसकी उम्र २० साल की होगी। उसके बिखरे बाल और धँसी आँखें स्पष्ट बता रही हैं कि वह पीड़िता है वह दर्शनलाल के पास आकर खड़ी हो जाती है।*)

रमणी—मैं चमनलाल से मिलना चाहती हूँ।

दर्शन—आपका उनसे कोई दफ्तर संबंधी कार्य्य है?

रमणी—जी नहीं।

दर्शन—तो उनके घर जाकर मिलिये।

रमणी—वे घर नहीं हैं।

दर्शन—तो यह सेठ विलासराय का दफ्तर है, रेलवे का वेटिंग-रूम नहीं। यहाँ आप दफ्तर के कार्य्य से ही मुलाकात कर सकती हैं।

रमणी—दो दिन से उनके यहाँ रोज जा रही हूँ, मकान पर ताला लगा मिलता है और मुलाकात नहीं होती। मुझे उनसे बहुत आवश्यक कार्य्य है।

दर्शन—(*रमणी की ओर बहुत संदिग्ध भाव से देखता हुआ*) उनका आपसे क्या संबंध है।

रमणी—वे मेरे भाई हैं।

दर्शन—अपने भाई ?

रमणी—अपने पराये, जो हैं ये ही हैं। इनके अतिरिक्त मेरा संसार में कोई नहीं।

(बाहर से दो बच्चों की दौड़-धूप और शोर सुनाई देता है)

दर्शन—*(बाहर की ओर देखता हुआ)* किसके बच्चे हैं ये ?

रमणी—मेरे।

दर्शन—*(चिढ़कर)* उनसे मिलने के लिए आप बच्चे भी साथ लेती आई हैं ? जाइये, संध्या समय उनसे घर पर मिलियेगा।

रमणी—मुझे बहुत आवश्यक कार्य है, महाशय ! मुझे अभी उनसे मिलना होगा। यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है।

दर्शन—*(विस्फारित नेत्रों से देखता हुआ)* जीवन-मरण का प्रश्न ?

रमणी—जी हाँ, जीवन मरण का प्रश्न।

(चमनलाल का प्रवेश—दुबला पतला सा ३० वर्ष का युवक मैले खादी के कपड़ों में। वह दर्शनलाल के पास जा उन्हें नमस्कार करता है और रमणी को देखकर आश्चर्य्यित होता है।)

दर्शन—*(चमनलाल से)* ये तुमसे दो बातें करना चाहतीं हैं। कहती हैं, बहुत जरूरी काम है, जीवन-मरण का प्रश्न है। *(गद्दी पर से उठता हुआ)* तुम इनसे बात करो, मैं अभी बाहर से आया। ध्यान रखना, सेठ जी के आने का समय हो गया है।

(दर्शनलाल का प्रस्थान । चमनलाल उस रमणी के पास आ जाता है ।)

चमन—यहाँ कैसे, रजनी ! क्या फिर कोई नई बात हो गई है ?

रजनी—अब तो हद हो गई, भैय्या ! रात फिर नशे में बुरी तरह सराबोर लौटे। द्वार खोलने में जरा देर हुई, तो यह देखो ······(*बाँह दिखाती है*) बेंत और जूतों की मार से कैसी दुर्दशा कर दी है ? आते ही बच्चे को उठाकर धम्म से पृथ्वी पर दे मारा ?

चमन—क्यों ? क्या अपराध किया था उसने ?

रजनी—उनकी चारपाई पर सो रहा था।

चमन—तुमने उन्हें रोका क्यों नहीं ?

रजनी—मेरा रोकना ही तो जहर बन गया। मेरे बोलने पर छुरा लेकर उसकी हत्या कर रहे थे। बगलवाली मेरा चिल्लाना सुन न दौड़ आती, तो उसकी भी कहानी समाप्त थी। पन्द्रह दिन पहले एक को छत से ढकेल कर मार ही डाला था और रात दूसरे की जान के पीछे पड़े थे। (*रो पड़ती है*)

(चमनलाल रजनी के आँसू अपनी कमीज की आँचल से पोंछ कर उसके सिर पर हाथ फेरने लगता है।)

चमन—तुम रात ही मेरे पास क्यों नहीं चली आईं, रजनी !

रजनी–रात कैसे आती ? अब उनके बाहर जाते ही तुम्हारे

पास दौड़ी आई हूँ। (*कुछ क्षण के बाद*) मैं कब तक उनके नशे की भट्टी में अपने बच्चों को झोंकती रहूँ, भैय्या !

चमन—मैं क्या जानता था कि तुम्हें मैं एक कसाई के हाथों सौंप रहा हूँ, बहन ! (*दीर्घश्वास*)

रजनी—मेरा तो ऐसा भी ठिकाना नहीं, कि किसी के यहाँ जाकर दो दिन रह आऊँ। तुम्हारे यहाँ आती हूँ. तो और उत्पात मचाते हैं। आत्महत्या करना चाहती हूँ तो बच्चों का भविष्य सोचकर हृदय फटने लगता है। जब मेरे सामने इतना अत्याचार करते हैं, तो मेरे बाद न जाने क्या हाल होगा ?

चमन—कुछ दिनों के लिए जैपुर जाकर मामाजी के यहाँ क्यों नहीं रह आती !

रजनी—कैसे जाऊँ, बताओ !

चमन—परसों ही तुम्हें रुपये दिये थे, क्या सब समाप्त हो गये ?

रजनी—रुपये तो सारे रक्खे हैं, किन्तु अकेली कैसे चली जाऊँ ? तुम ही दो दिन के लिए चलकर क्यों नहीं पहुँचा देते ?

चमन—बहुत यत्न कर रहा हूँ, लेकिन छुट्टी नहीं मिलती। (*कुछ सोचकर*) खैर, आज बारह बजे क गाड़ी से अवश्य चलेंगे, और सदा के लिए चलेंगे। जब यहाँ से जाना ही है, तो सेठजी की खुशामद कैसी ? जैपुर चलकर ही कमा खाऊँगा। तुम्हें अब उस अधर्म्मी के यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं। तुम बच्चों को

लेकर स्टेशन चलो, मैं आ रहा हूँ। (*रजनी जाना चाहती है*) और सुनो, रुपये पास हैं ?

रजनी—हाँ !

चमन—अच्छा, तुम आगे बढ़ो, मैं समय पर आ जाऊँगा।

(*एक बार फिर आँसू पोंछकर जैसे ही बहन को विदा करना चाहता है, दर्शनलाल आ जाते हैं और घूरते हुए देखकर खड़े हो जाते हैं।*)

चमन—(*रजनी से*) जाओ रजनी ! मैंने जो कहा है, वही करना (*रजनी का प्रस्थान*)

दर्शन—देखो चमनलाल ! एक तो तुम कभी समय पर नहीं आते, उस पर तुम्हारे अपने पराये मिलने आया करते हैं। जीवन-मरण की बात पर दया करके मैंने उसे तुमसे मिलने की अनुमति दे दी थी और उसने आकर रोना धोना आरम्भ कर दिया। यदि सेठ जी आ जाते, तो मैं क्या उत्तर देता ?

चमन—इस बार क्षमा कर दीजिये। भगवान् ने चाहा तो फिर ऐसा कभी नहीं होगा।

दर्शन—"फिर ऐसा कभी नहीं होगा;" मिल वाली रोकड़ का काम समाप्त हुआ ?

चमन—कल जरूर हो जाएगा ?

दर्शन—इतने दिनों से तुम क्या कर रहे थे ? सुमतप्रसाद को गये कितने दिन हुए ?

चमन—पाँच दिन।

दर्शन—पाँच दिनों में तुम इतना जरा सा काम नहीं कर सके! ना बाबा ऐसे काम नहीं चलेगा। अन्त में सारी जिम्मे-दारी मेरे सिर आएगी। अच्छी तरह काम करना है तो ठीक है, वर्ना और कहीं काम देख लो। (*चमनलाल अपराधी की भाँति चुप खड़ा रहता है*) यहाँ खड़े मेरे मुख की ओर क्या देख रहे हो? जाओ, अपने कमरे में। आज काम खत्म किये बिना तुम घर न जा सकोगे।

चमन (*घबरा कर*) किन्तु आज तो बारह बजे मुझे बहुत ही जरूरी काम है मुनीम जी! ऐसा ही है, तो कल रोक लीजियेगा।

दर्शन—(*आज्ञापूर्ण स्वर में*) दफ्तर का काम तुम्हारे घर कार्य्य से अधिक जरूरी है। जाओ, अपने कमरे में।

(निराश चमनलाल का प्रस्थान। दर्शनलाल फिर हिसाब जोड़ने में व्यस्त हो जाते हैं। कुछ देर के बाद सेठ विलासराय अपने पुत्र गोपीचंद के साथ प्रवेश करते हैं।

विलासराय अधेड़ उम्र के व्यक्ति हैं। उन्होंने पुराने व्यवसाइयों जैसी पोशाक पहिन रक्खी है अर्थात्—धोती, अचकन और पगड़ी। कमरे में आते ही वे पगड़ी उतार कर रख देते हैं, जिससे पता चलता है कि उनके कच्चे, पक्के, सफेद और काले बाल सिर से काफी उड़ चुके हैं। सामने के सारे दाँत टूटे हुए हैं। उनका पुत्र गोपीचन्द पढ़ा लिखा प्रतिभाशाली युवक मालूम पड़ता है। वह सूट पहने हुए है।

दर्शनलाल उठकर उनका अभिवादन करते हैं और फिर तीनों अपने अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। सेठ जी कागज उठाकर जांच पड़ताल करने लगते हैं, मुनीम जी हिसाब जोड़ने लगते हैं और गोपीचन्द पास रक्खा हुआ अखबार पढ़ने लगता है।)

सेठ—(*दर्शनलाल से*) मुनीम जी! बैंक के लेजर और अपनी रोकड़ में कितना फर्क है?

दर्शन—लगभग ३००) रु० का।

सेठ—लगभग क्या, ठीक बताइये, कितना फ़र्क है?

दर्शन—(*कागज देखकर*) २९७) रु० का।

सेठ—आश्चर्य्य!

दर्शन—कल से इसी में लगा हूँ, कहीं गलती नहीं निकलती। देखिये, बैंक के लेजर की नकल। (*कुछ कागज सामने रख देते हैं*)

सेठ—जरा फर्म वाली चेकबुक तो देखूँ। (*दर्शनलाल सन्दूकड़ी में से चेकबुक निकाल कर सामने रख देते हैं। सेठजी मुसन्नों को पलटने लगते हैं*) ५००) रु० वकील को, ठीक है। १०००) रु० सरनीमल जैकुमार के नाम, क्यों मुनीमजी!

दर्शन—(देखकर) जी हाँ, ठीक है।

सेठ—२००) रु० का चेक……किसके नाम है? देखो तो, गोपीचन्द! यह तो तुम्हारा ही हस्ताक्षर है।

गोपीचंद—(देखकर) जी हाँ! मेरा ही है। (*फिर अखबार पढ़ने लगता है*)

सेठ—किस काम से रुपये मँगाये थे ?

गोपीचन्द—(*अखबार पढ़ने में बाधा पा खिजा हुआ-सा*) किस तारीख का चेक है ?

सेठ—२० तारीख का। (*गोपीचन्द सोचने का प्रयत्न करता है*) केवल पाँच दिन पहले की बात है और तुम्हें याद नहीं ?

गोपीचन्द—जी हाँ, याद है। पान वाले को रुपये दिये गये थे।

सेठ—तुम पान नहीं खाते, मैं नहीं खाता, कभी-कभी आने जाने वालों के लिये मँगवा दिये जाते हैं, उस पर एक माह में ३००) रु० ?

गोपीचन्द—(*अखबार रखकर साश्चर्य्य*) ३००) रु० ? असम्भव ! देखूँ तो जरा चेकबुक। (*चेकबुक देखकर*) मुझे खूब याद है मैंने ३) रु० बैंक से मंगवा कर पान वाले को दिये थे।

सेठ—इतनी छोटी रकम के लिये भला चेक देने की क्या आवश्यकता थी ? तुम अपने पास से दे सकते थे।

गोपीचन्द—आपकी ही आज्ञा है कि फर्म संबंधी सारे रुपये चेक द्वारा दिये जायें, ताकि हिसाब साफ रहे।

सेठ—(*फिर चेकबुक देखकर*) किन्तु यहाँ तो ३००) रु० लिखे हुए हैं। किसने चेक भुनाया था ?

गोपीचन्द—मैंने तो मुनीम जी को दे दिया था।

सेठ—(*दर्शनलाल से*) क्यों मुनीम जी ?

दर्शन—इसी समय सेठ प्रकाशनारायण आ गये थे और मैं उनसे बात करने लगा था। मैंने वह चेक सुमतप्रसाद को दे दिया था और उसने ही रुपये इन्हें लाकर दिये थे। आपको स्मरण होगा, गोपीचन्द जी!

गोपीचन्द—जी हाँ, खूब स्मरण है। सुमतप्रसाद ही ने मुझे रुपये लाकर दिये थे।

सेठ—और सुमतप्रसाद शनिवार को नौकरी छोड़कर चला गया। इसके अर्थ हुए वही रुपये लेकर चम्पत हो गया।

दर्शन—बड़े आश्चर्य की बात है। तीस वर्ष से यहाँ काम कर रहा हूँ, कभी ऐसा नहीं हुआ।

सेठ—आश्चर्य्य की बात तो है ही। अंक के स्थान पर तीन के पीछे दो शून्य बढ़ा दिये गये हैं और अक्षर की जगह सौ और लिख दिया गया है। इससे बड़ा गबन और क्या हो सकता है? गोपीचन्द! जरा कोतवाली फोन करना। (*गोपीचन्द उठ खड़ा होता है*) और सुनो, बगल से जरा बैंक बाबू को दो मिनट के लिये मेरे पास भेज देना।

गोपीचन्द—बहुत अच्छा। (*प्रस्थान*)

सेठ—आज ही गिरफ्तारी का वारन्ट निकलवा दूँगा, सारी जालसाजी निकल जाएगी सुमतप्रसाद की।

(*बैंक बाबू का प्रवेश*)

बैंक बाबू—नमस्ते, सेठ जी।

सेठ—आइये बैंक बाबू ! इस माह की २० ता० को आपके यहाँ हमारा कोई चेक गया था ?

बैंक बाबू—इतना याद रखना तो असम्भव है क्योंकि सैकड़ों चेक रोज आते जाते हैं । देखूँ, जरा चेकबुक (*पास बैठकर चैक-बुक देखता है और याद करने की कोशिश करता हुआ*) ओ ! याद आया । शनिवार होने के कारण एक बजे ही बैंक बन्द हो चुका था, किन्तु आपका चेक था, इसलिये इसे खास तौर से कैश कर दिया गया था ।

सेठ—कौन चेक लेकर गया था ?

बैंक बाबू—जहाँ तक याद आता है और मस्तिष्क काम करता है वह आदमी आपका छोटा मुनीम था ।

सेठ—उसकी सूरत याद है ?

बैंक बाबू—गोरा रंग, नाटा कद, उम्र लगभग ३० साल और ......

सेठ—ठीक है । वह सुमतप्रसाद ही था और इसे हम पहले ही समझ गये थे । वह आदमी यहाँ से नौकरी छोड़कर चला गया है, इसलिए अभी हम उसे आपके सामने शनाख्त के लिए पेश नहीं कर सकते । खैर, अदालत में तो आप उसे पहिचान लेंगे न ?

बैंक बाबू—जी, बखूबी ।

(*इतने में चमनलाल अपने कमरे से बाहर जाता दिखाई देता है*)

सेठ—कहाँ जा रहे हो, चमनलाल ?

चमन—एक काम से दस मिनट के लिए बाहर जा रहा हूँ।

सेठ—अभी ठहरो, थोड़ी देर में जाना। एक जरूरी बात की जाँच पड़ताल हो रही है।

चमन—जो आज्ञा। (*वापस चला जाता है*)

बैंक बाबू—सेठ जी ! यह वही आदमी है, जिसने चेक कैश किया था।

सेठ—आपको ठीक याद है ?

बैंक बाबू—मैं कसम खाकर कह सकता हूँ।

सेठ—सुमतप्रसाद के स्थान पर कहीं इसे पहिचानने में आप भूल तो नहीं कर रहे हैं ?

बैंक बाबू—मेरी आँखें कभी धोखा नहीं खा सकतीं।

सेठ—अच्छा, अब आप जा सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर फिर कष्ट दूँगा। (*नमस्ते करके बैंक बाबू का प्रस्थान*) क्यों मुनीम जी ! आप तो इसकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे। अब बताइये, क्या किया जाए।

दर्शन—उसे बुलाकर पूछिये।

सेठ—(*पुकारता है*) चमनलाल !

चमन—(*अन्दर से*) जी।

सेठ—इधर आओ।

चमन—बहुत अच्छा।

गोपीचन्द—(*आकर सेठ के पास बैठता हुआ*) कुछ पता चला ?

सेठ—सब चमनलाल की कारवाई है।

गोपीचन्द—(*आश्चर्य्य से*) चमनलाल की ?

सेठ—हाँ ! (*चमनलाल वहाँ आ जाता है सेठ उसे मुसन्ना दिखाता है*) तुम इस चेक के विषय में कुछ जानते हो ?

(*चेकबुक देखते ही चमनलाल के मुख का रंग उड़ जाता है। वह घबरा उठता है।*)

चमन—जी नहीं।

सेठ—(*डाँट कर*) होश में उत्तर दो। तुमने गत शनिवार को इसे कैश किया था ?

चमन—(*अपने को सम्हालता हुआ*) ओ !······गत शनिवार को ?······जी हाँ, याद आया, मैंने ही इसे कैश किया था।

सेठ—तुम्हें यह चेक कहाँ से मिला ?

चमन—मुझे सुमतप्रसाद ने दिया था।

सेठ—(*दर्शनलाल के प्रति*) और आपने चेक सुमतप्रसाद को दिया था ?

दर्शन—जी हाँ।

सेठ—(*चमनलाल से*) तुम जानते हो गोपीचन्द जी ने केवल ३) रु० का ही चेक दिया था ?

चमन—जी नहीं, ३००) रु० का।

सेठ—बको मत। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि चेक ३) रु० का दिया गया था। तुमने अथवा सुमतप्रसाद ने जालसाजी करके तीन का तीन सौ बना लिया है।

चमन—मैंने ?……नहीं, सेठजी ! सुमतप्रसाद ने मुझे २००) रु० का ही चेक दिया था।

सेठ—अच्छा, यही सही। चेक लेकर वह बैंक स्वयं क्यों नहीं गया ?

चमन—(*गोपीचन्द को संकेत करके*) बाबू जी के पास वह कुछ जरूरी कागज लिए जा रहा था। मैं खाली था, इसलिए उसने मुझे दे दिया था।

सेठ—तो तुम यह कहना चाहते हो कि सुमतप्रसाद ने गबन किया है और इसमें तुम्हारा कोई हाथ नहीं ?

चमन—मेरा यह मतलब नहीं, सेठजी ! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि सुमतप्रसाद ने मुझे चेक दिया था और मैंने रुपये उसे लाकर दे दिये थे।

सेठ—(*दर्शनलाल*) सुमतप्रसाद को यहाँ से गये कितने दिन हुए मुनीम जी ?

दर्शन—वह सोमवार से यहाँ नहीं आ रहा है।

सेठ—क्यों चमनलाल ?

चमन—जी हाँ, शनिवार के दिन ही उसने अपना सारा काम मुझे सौंप दिया था।

सेठ—शनिवार की सुबह से ही चेकबुक गोपीचन्द की जेब में थी और उस दिन वह उसे भूल से घर ले गया था। फिर बृहस्पतिवार के दिन आवश्यकता पड़ने पर चेकबुक खास तरीके से घर से मँगवाई गई थी। तुम्हें याद होगा, गोपीचन्द !

गोपीचंद—जी हाँ,

सेठ—यदि सुमतप्रसाद ने गबन किया होता, तो मुसन्ने पर कोई परिवर्त्तन न होता। मुसन्ने की रद्दोबदल यह प्रमाणित करती है कि इसमें सुमतप्रसाद का कोई हाथ नहीं, बल्कि और किसी का हाथ है क्योंकि इसमें जो किया गया है, बृहस्पतिवार के बाद। (*सब चुप रहते हैं। कुछ क्षण तक सन्नाटा छाया रहता है*) क्यों चमनलाल ! क्या अब भी तुम अस्वीकार करोगे कि यह शुभ कार्य्य तुम्हारे द्वारा निष्पन्न नहीं हुआ है ?

चमन—(*घबराकर*) मैंने······मैंने······यह चेक······मैं तो···

सेठ—(*चीत्कार करके*) हाँ तुमने, चमनलाल, तुमने ! तुमने ही ऐसा किया है। सच बोलो, क्या मामला है !

चमन—(*कुछ देर के बाद सिर झुकाये*) जी हाँ, मुझ से ही यह गलती हो गई थी।

सेठ—क्यों गलती हो गई थी ?

चमन—मुझे रुपयों की सख्त जरूरत थी।

सेठ—तुम्हें रुपयों की जरूरत होगी, तो तुम चोरी करोगे, किसी की हत्या कर डालोगे ?

चमन—संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं, सेठजी ! जो परिस्थिति के आधीन चोरी भी करते हैं और हत्या भी। मैं चारों ओर से निराश हो गया था, इसलिए मुझे ऐसा करना पड़ा।

सेठ—निराशा में भी क्या मनुष्य तुम्हारे जितना साहस कर सकता है ?

चमन—जब आशा मनुष्य का साथ छोड़ देती है, तो उसे निराशा में ही बल मिलता है, सेठजी! आपके दफ्तर से थक कर घर जाने के बाद, जो हाथ थकावट के मारे भोजन नहीं बना सकते थे और मुझे भूखा सो जाना पड़ता था, उन्हीं हाथों में निराशा के कारण इतनी शक्ति आ गई कि मैंने आपके रुपये चुराकर अपनी बहन को दे दिये।

गोपीचंद—बहन को!

चमन—हाँ, बहन के लिये ही मैंने चोरी की है। बचपन से अनाथ होने के कारण मेरी कमजोर पीठ पर उसका बोझ रहा है। मैं गरीब था इसलिए कहीं भी उसके लिए मुझे योग्य पात्र नहीं मिल सका।

गोपीचंद—तो तुमने अभी तक उसका विवाह नहीं किया?

चमन—किया, किन्तु एक दुश्चरित्र शराबी से, क्योंकि इसके अतिरिक्त मेरे पास और कोई चारा नहीं था; किन्तु इसका जो भीषण परिणाम हुआ, उसकी कल्पना मैंने स्वप्न में भी नहीं की थी। कोई दिन ऐसा न होता कि उसके शरीर का तिल भर स्थान भी जूतों और बेतों के दाग़ से वंचित रह जाए। मैंने हृदय को पाषाण बना कर सब सहन कर लिया। वह एक एक पैसे को तंग रहती और······

सेठ—और तुमने रुपये चुराकर उसकी तंगी दूर कर दी?

चमन—हाँ, सेठजी! मुझे यही करना पड़ा। परिस्थिति इतनी भयंकर हो उठी कि मैं अपने को नहीं सम्हाल सका।

पच्चीस दिन की बात है कि उस लम्पट ने एक बच्चे को छत पर से ढकेल कर उसकी हत्या कर डाली और अब मेरी बहन और उसके दो बच्चे भी उसके नशे की ज्वाला में अपनी आहुति देने जा रहे थे।

सेठ—मैं मानता हूँ वह ऐसा कर लेता, किन्तु रुपयों से उसका कैसे उद्धार हो सकता था?

चमन—मैंने तय कर लिया था कि चुपके बहन और उसके बच्चों को लेकर मामाजी के यहाँ जैपुर छोड़ आऊँगा। महीने में २०) रु० मिलते हैं आपके यहाँ से। इससे अपने पेट के ही चारों कोने नहीं भरते। यहाँ से उन्हें ले जाने के खर्च के लिए ही मुझे आपके रुपये चुराने पड़े।

गोपीचंद—यदि तुम उन्हें यहाँ से नहीं ले जाते तो क्या होता?

चमन—वह किसी क्षण इनकी हत्या कर सकता था। एक दिन की बात मुझे अच्छी तरह याद है, जब प्रातःकाल वह बच्चों को लेकर मेरे पास आई थी। उसके सिर से रक्त निकल रहा था, पीठ पर बेतों के ताजे दाग़ थे, घसीटे जाने के कारण उसका सारा शरीर बुरी तरह छिला पड़ा था और गले पर उँगलियों की छाप थी—गला घोंट कर उसे मार डालने की कोशिश की गई थी। उसे देख कर मेरा रोम रोम सिहर उठा। उस घटना की कल्पना अब भी मेरे लिए असह्य है।

गोपीचंद—(*दिलचस्पी लेता हुआ*) तब उसके बाद?

चमन—दफ्तर आया तो काम में बिलकुल मन नहीं लगा। बार बार यही सोचता रहा कि फिर वैसा हुआ तो अवश्य उसकी मृत्यु हो जाएगी। बहन की सूरत और उस पर किये गये अत्याचार चलचित्र की भाँति आँखों के सामने नाच गये। इतने में सुमतप्रसाद ने वह चेक मुझे लाकर दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो उसकी मूक आँखें कह रही हैं, "लो यह भगवान का आशीर्वाद। उन्होंने तुम्हारी बहन की पुकार सुन ली।"

सेठ—उसके बाद ही तुमने ग़बन करने की ठान ली?

चमन—मैं आप से सच कहता हूँ कि मुझे बिलकुल याद नहीं कि ऐसा करने की कुभावना का मेरे हृदय में कब प्रादुर्भाव हुआ और मैंने कब चेक में रद्दोबदल की। इतना अवश्य याद है कि दूसरे क्षण मैं बैंक में था और रुपये मेरे हाथ में। अपने पाप का प्रतिबिंब जब पहली बार मेरे मस्तिष्क में आया, तो मैं पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगा। जी में आया कि रुपये नाली में फेंक कर सामने से आती हुई मोटर के पहियों में जा कूदूँ, किन्तु उसी समय आर्द्रा बहन की करुण मूर्ति आँखों के सामने आ खड़ी हुई, उसका आर्तनाद कानों के परदे से टकराने लगा, मैं अचेत-सा आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

सेठ—तो तुम्हें यह याद नहीं कि तुमने चेक पर कब रद्दो-बदल किया?

चमन—जी नहीं।

सेठ—और मुसन्ने पर संख्या बढ़ाने की बात भी तुम्हें याद नहीं ?

चमन—जी हाँ, यह अच्छी तरह याद है।

सेठ—तो इससे यह प्रमाणित हुआ कि तुम इस कार्य्य के लिए अवसर की तालाश में थे ?

चमन—जी हाँ।

सेठ—किस दिन तुमने ऐसा किया ?

चमन—शुक्रवार के दिन।

सेठ—कभी तुमने यह नहीं सोचा कि रुपये वापिस करके अपना अपराध स्वीकार कर लूँ ?

चमन—कई बार सोचा, किन्तु भय से ऐसा न कर सका।

सेठ—यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारे जाने के बाद हमारा सन्देह सुमतप्रसाद पर होता और वह पकड़ा जाता। क्या तुम्हें उसके ऊपर दया नहीं आई ?

चमन—इसीलिए तो मैंने निश्चय किया था कि किसी से कर्ज लेकर या कमाकर आपके रुपये जैपुर से अवश्य भेज दूँगा।

सेठ—अच्छा जाओ, अपना काम करो। बड़ी सफाई पेश करना जानते हो। (*नतमस्तक चमनलाल का प्रस्थान*) कोतवाली में फोन कर दिया है, गोपीचन्द ?

गोपीचंद—जी हाँ ! क्या आप इसे पुलिस के हवाले करना चाहते हैं ?

सेठ—हाँ।

गोपीचंद—पिताजी! यह उसकी पहली भूल है!

सेठ—इसीलिए मैं उसे अदालत के सुपुर्द करना चाहता हूँ ताकि उसे फिर दुबारा ऐसी भूल करने का प्रोत्साहन न मिले।

गोपीचंद—उसकी परिस्थिति में ऐसा करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य होना पड़ता। सोचिये तो जरा उसकी बहन की दुर्दशा को। ऐसी अवस्था में क्या आप और मैं ऐसा न करते?

सेठ—परिस्थिति का मनुष्य के चरित्र के ऊपर क्या महत्व है? मनुष्य परिस्थिति के आधीन नहीं।

गोपीचंद—परिस्थिति के आगे मनुष्य बेबस है। जहाँ प्रत्यक्ष रूप से वह मनुष्य के आधीन दीख पड़ती है, वहाँ भी वास्तव में मनुष्य ही परिस्थिति के हाथों का खिलौना बनकर उसके इशारों पर नाचता फिरता है। इसी का दूसरा नाम है, मजबूरी।

सेठ—तो क्या मजबूरी में मनुष्य को चोरी जैसा घृणित कार्य्य करना चाहिये?

गोपीचंद—यदि घर में आग लगी हो तो उसे नाबदान के पानी से बुझाना पाप नहीं। मुझे उसका अपराध अस्वीकार नहीं, मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि जालसाजी करना उसका पेशा नहीं, केवल बेबसी में ही उसे ऐसा करना पड़ा है। ऐसा वज्र-हृदय भाई कहीं नहीं मिलेगा, जो बहन की ऐसी विकट

दुर्दशा को देखकर पाषाण बना रहे—और वह भी एक हिन्दू बहन, जिसे पति के अमानुषिक व्यवहारों से मुक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं; वह बहन, जो मृत्यु को गले का हार बनाकर जीवन से खेल रही है।

सेठ—क्या यह जरूरी है कि जो वह कह रहा है, सत्य है ?

गोपीचंद—क्या अब भी आप उससे झूठ बोलने की आशा करते हैं, पिताजी ! हमारे जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप यही है और हमारे अस्तित्व की सबसे भीषण ट्रेजेडी यही है कि एक बार गलती कर लेने के बाद हजार पश्चात्ताप करके भी हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आजीवन जलकर भी, अपने सिर से पाप का बोझ हल्का नहीं कर सकते। अपने किए हुए पापों के एहसास से बढ़कर मानव के लिए दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं। और वही चमनलाल कर रहा है।

सेठ—मैं उसके सारे जुर्म माफ कर सकता था, किन्तु यदि यह बात न खुलती तो बेचारा निरपराध सुमतप्रसाद मारा जाता। मैं उसका यह अपराध माफ नहीं कर सकता, गोपीचन्द !

गोपीचन्द—जब इतनी छोटी भूलों को देखकर हम आँख फेर लेने की क्षमता नहीं रक्खेंगे, तो आँखों के सामने दिन दहाड़े बड़े बड़े अपराधों को विस्मृति के अतल उपकूल में विलीन होते देख, हम कैसे जिन्दा रहेंगे, पिताजी ! हमें चमनलाल का जुर्म जितना बड़ा मालूम पड़ रहा है, यह वास्तव में उतना बड़ा नहीं

है। एक जो जुर्म कर फाँसी के तख्ते पर जाता है, दूसरा वही जुर्म कर एक साम्राज्य का अधिकारी होता है। जुर्म की भी क्या कोई कसौटी होती है, पिताजी !

सेठ—हाँ, जुर्म की कसौटी होती है और वह है कानून। इससे सामाजिक जीवन का सुधार होता है।

गोपीचन्द—और इस सुधार में बिना शकी भी एक बहुत बड़ी लचक होती है।

सेठ—नहीं, कानून एक ऐसी आँधी है, जो अपने आदम्य वेग में देश और समाज की तमाम बुराइयों को दूर बहा ले जाती है।

गोपीचन्द—साथ ही वह ऐसी भयानक आँधी है, जो लौट-कर नहीं देखती कि उसके वेग से कौन सी लता टूटी, कौनसा वृक्ष उखड़ा, कौनसी बसी बसाई छत कब और कहाँ उड़कर चली गई। कानून अन्धा होता है।

सेठ—कानून अन्धा हो सकता है, किन्तु इसे राह पर चलाने वाला इसका संचालक न्याय अन्धा नहीं। न्याय एक ओषधि है, जिसे पीकर आत्मा की बड़ी से बड़ी कालिमा धुल जाती है।

गोपीचन्द—जी नहीं, न्याय एक ऐसा बोझिल रथ है, जिसके पहियों के नीचे एक बार कुचले जाने के बाद मनुष्य के जीवन की रीढ़ सदा के लिये टूट जाती है। वह कभी खड़ा नहीं हो सकता, उसे समाज में स्थान नहीं मिलता। आपकी दृष्टि में

कानून और न्याय कोई महत्वपूर्ण वस्तु हो सकती हैं, किन्तु मेरी राय में यह एक मकड़ी का जाला है जिसमें निरीह निर्बल प्राणी एक बार फँसकर कभी वापिस नहीं निकलते, किन्तु एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति के जाते ही इसके ताने बाने स्वयं टूट कर बिखर जाते हैं। चमनलाल निरीह और निर्बल प्राणी है, उसे क्षमा कर देना ही न्याय है, पिता जी!

मक्खन—(*आकर*) कोतवाल साहब आये हैं।

सेठ—उन्हें यहाँ ले आओ। (*मक्खन का प्रस्थान*) देखो गोपी-चन्द! संसार के सारे अपराधियों को क्षमा कर देने की उदारता में और किसी को क्षमा न करने की निष्ठुरता और हृदय-हीनता में ज्यादा फर्क नहीं। मैं अपनी जिम्मेदारी समझता हूँ। इसलिए कोतवाल साहब के सामने वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं, काफी बहस हो चुकी है।

गोपीचन्द—मेरी तबियत खराब हो रही है, मैं घर चला पिताजी!

(*एक ओर गोपीचन्द का प्रस्थान और दूसरी ओर से कोतवाल साहब का प्रवेश।*)

कोतवाल—आदाब अर्ज है, सेठजी!

सेठ—तस्लीम, तस्लीम! आइये कोतवाल साहब! इधर तश-रीफ लाइये।

(*कोतवाल सेठ के पास आकर बैठ जाता है।*)

कोतवाल—मुझे किस लिये आपने याद किया सेठजी?

सेठ—(*अन्दर की तरफ पुकारता हुआ*) चमनलाल ! जरा इधर आना ।

(*चमनलाल आता है और कोतवाल को देखकर उसके होश उड़ जाते हैं । वह उसे सलाम कर सेठजी के पास खड़ा हो जाता है ।*)

सेठ—मेरे दफ्तर में गबन हुआ है और इतनी होशयारी से कि गबन करने वाले की तारीफ करनी पड़ती है ।

कोतवाल—कितने रुपयों का गबन हुआ है ?

सेठ—२९७) रु० का । ३) रु० के चेक को ३००) रु० का बनाकर उसे कैश कर लिया गया है । यह लीजिए चेकबुक (*चेकबुक खोलकर सामने रख देता है*) यह है वह मुसन्ना और ये हैं श्री चमन लाल, मेरे दफ्तर के मुनीम । गबन करने का कमाल आपको ही प्राप्त है और आपने अपना जुर्म भी स्वीकार कर लिया है ।

कोतवाल—(*चमनलाल को आँखें दिखाता हुआ*) क्या यह ठीक है ?

चमन—(*सेठ से*) चाहे जैसे हो मैं आपके रुपये वापस कर दूँगा । इस बार मुझे क्षमा कर दीजिये, फिर ऐसी गलती कभी नहीं होगी ।

कोतवाल—तो फिर इसे अपना गबन कबूल है ।

सेठ—आपके ही सामने कह रहा है ।

कोतवाल—तो मैं इसे कोतवाली लिए जा रहा हूँ ।

चमन—(रोकर सेठ से) सेठजी ! मैं आपके पैर पकड़ता हूँ, मुझे पुलिस के हवाले न कीजिये। मुझे केवल इस बार क्षमा कीजिये। (*सेठ के पैरों पर गिर पड़ता है*)

कोतवाल—चलो उठो। तुम्हें जो कहना है; अब कोतवाली चलकर कहना।

(*खींचकर उसे सेठजी के पैरों पर से उठा लेता है।*)

चमन—दुहाई है आपकी सेठजी ? मुझे बचा लीजिये, मेरी अनाथिनी बहन पर दया कीजिये, वह घर छोड़कर चली आई है, मेरे अतिरिक्त अब उसके लिये कहीं स्थान नहीं रहा। सेठजी ! मुझे केवल इस बार क्षमा कर दीजिये, मुझ पर तरस खाइये······

(*कोतवाल उसे खींचकर ले जाता है। देखा जाता है कि दर्शनलाल अपने आँसू पोंछ रहे हैं।*)

दूसरा दृश्य

स्थान—वही दफ्तर। **समय—तीन वर्ष बाद**

(*दर्शनलाल अपने पुराने स्थान पर बैठे हैं। चमनलाल फटे पुराने मैले चीथड़ों में उनके सामने खड़ा है। उसका स्वास्थ्य पहले से बहुत गिर गया है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है, आँखें धँसी हुई और मुख पर निराशा और वीरानी की रेखायें स्पष्ट रूप से दीख रही हैं।*

दर्शन—तीन वर्ष······हाँ, पूरे तीन वर्ष के बाद तुमसे मुलाकात हो रही है चमनलाल ! क्या इतने दिन जेल ही में रहे ?

चमन—ढाई वर्ष जेल में रहा और छः महीने दुनिया की खाक छानता फिरा।

दर्शन—तुम्हें दो वर्षों का ही कारावास मिला था न ?

चमन—जी हाँ, दो वर्ष की कैद और ५००) रु० जुर्माना, जिसे अदा न कर सकने के कारण छः महीने और कैद में रहना पड़ा।

दर्शन—जेल से छूटने के बाद तुम छः महीने तक क्या करते रहे ?

चमन—दो एक जगह नौकरी की, किन्तु टिक न सका। फिर इधर उधर मारा फिरता रहा।

दर्शन—क्यों ?

चमन—एक बैंक में नौकरी मिली थी। दो माह भी नहीं व्यतीत हो पाये थे कि एक बाबू को मेरे अतीत इतिहास का पता चल गया। उसने मैनेजर से शिकायत करदी और मैं निकाल दिया गया।

दर्शन—उसके बाद ?

चमन—उसके बाद एक सेठ के यहाँ मुनीम हुआ। वहाँ तो सात दिन भी न रह पाया था कि भेद खुल गया। धक्के देकर निकाल दिया गया और तनख्वाह जब्त। अब तो मेरा जेल जाना अभिशाप का टीका बनकर सदा मेरे माथे पर मौजूद रहता है। काफी प्रसिद्ध हो चुका हूँ। जहाँ जाता हूँ, दरबान ही अन्दर घुसने नहीं देता।

दर्शन—तुम्हारी बहन का आजकल क्या हाल है ?

चमन—जिस दिन मैं पकड़ा गया, उसी दिन स्टेशन पर रेल के नीचे दब कर उसने आत्महत्या करली। (*आँखों में आँसू आ जाते हैं*) बेचारी ने एक बार मुझसे मिलने तक की चेष्टा न की।

दर्शन—और उसके बच्चे ?

चमन—शायद अनाथालय में भेज दिये गये।

दर्शन—तुम उनसे मिले ?

चमन—कौनसा मुँह लेकर उनसे मिलने जाता ? अपनी अपवित्र छाया उन पर डालकर मैं उनका भी भविष्य नहीं नष्ट करना चाहता।

दर्शन—तुम्हारी दुर्दशा सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ, चमनलाल ! किसी दूसरे नगर में नौकरी तालाश कर लेते।

चमन—अब कहीं जाने का साहस मुझ में नहीं रहा। जेल से छूटने के बाद एक बार जैपुर मामाजी के यहाँ गया था। दो दिन भी उनके यहाँ अच्छी तरह नहीं रह पाया था कि मामीजी बोलीं, "तुम जानते हो, चमनलाल ! लड़कियों के ब्याह की बातचीत चल रही है। तुम्हारे यहाँ रहने से उनका संबंध अच्छी जगह न हो सकेगा। लो, ये दस रुपये और यहाँ से चले जाओ।" मैंने सधन्यवाद उनके रुपये लौटा दिये और फिर किसी के यहाँ नहीं गया। अब मुझे मनुष्य से घृणा हो गई है। अकेला ही अपने पापों का बोझ ढोता फिर रहा हूँ।

दर्शन—पाप का बोझ ?

चमन—आजकल मैं लोगों की जेब काटकर अपना निर्वाह करता हूँ।

दर्शन—(*आश्चर्य्य से*) जेब काटकर ?

चमन—जी हाँ ! जेल में एक प्रवीण जेब काटने वाले से मेरी मित्रता हो गई थी। ढाई वर्ष में उसने इस कला का सारा रहस्य मुझे बता दिया। अब मैं पूर्ण सफलता से किसी की भी जेब काट सकता हूँ।

दर्शन—मैं यह क्या सुन रहा हूँ, चमनलाल ! क्या मनुष्य का इतना पतन हो सकता है ?

चमन—पेट के गड्ढे को भरने के लिए मेरे पास और क्या चारा था ?

दर्शन—मैं उसकी व्यवस्था करूँगा। आज ही सेठजी से कहकर तुम्हारी पुरानी जगह तुम्हें दिलवा दूँगा। तुम अपनी आत्मा के धब्बों को धो डालने का यत्न करो।

चमन—मैं भी इसीलिए आपके पास आया हूँ, मुनीमजी ! कई दिनों से बिना खाये, पीये, सोये, मैं, अपनी आत्मा की फटकार बुरी तरह सुन रहा हूँ। स्टेशन की बेंच पर पड़े पड़े मैंने रुपयों से भरे जेबों को आँखों के सामने से गुजरते देखा, जिन पर अल्प प्रयास मात्रा से ही मैं स्वामित्व प्राप्त कर सकता था, किन्तु मैंने घृणा से मुख फेर लिया। एक बार फिर निष्पाप जीवन व्यतीत करने की ठानी है। आप मुझे यहाँ जगह दिलवा दें।

(सेठ विलासराय और गोपीचन्द प्रवेश करते हैं। दर्शनलाल उनका अभिवादन करते हैं और जब उनकी दृष्टि चमनलाल पर पड़ती है तो उसे वे कठिनाई से पहिचान पाते हैं।)

सेठ—अरे चमनलाल ! तुम यहाँ कैसे ?

दर्शन—नौकरी की तलाश में आया है।

सेठ—चमनलाल हमेशा मेरे और गोपीचन्द के तर्क का विषय बना रहा। हम तो निर्णय ही कर चुके थे कि जेल से आते ही इसकी जगह इसे दे देंगे। (*चमनलाल से*) हमारा तुम्हारे साथ कोई वैर नहीं था, चमनलाल ! सुधारने के अभिप्राय से ही तुम्हें कानून के हाथों सौंपा गया था।

चमन—उस समय क्षमा करके ही आप मेरा अधिक उपकार कर सकते थे, सेठजी ! आज मैं पतन के जिस गड्ढे में जा गिरा हूँ, उसका उत्तरदायित्व मेरी ढाई साल की कैद ही है। आज मैं बहन और उसके बच्चों को खोकर जिस अकेलेपन का अनुभव कर रहा हूँ, उसका प्रतिदान संसार का सारा साम्राज्य भी नहीं कर सकता।

सेठ—खैर, जो हुआ, सो हुआ। अब मैं तुम्हारी जगह तुम्हें फिर देता हूँ।

चमन—मैं आपका आभारी हूँ। जीवन की यही मेरी अन्तिम और क्षीण आशा थी।

सेठ—तुम्हारी हालत बहुत दर्दनाक मालूम हो रही है। कुछ रुपयों की आवश्यकता हो, तो पेशगी में ले सकते हो।

चमन—मेरे पास इस समय एक पैसा नहीं है। मैं तीन दिन का भूखा हूँ।

सेठ—गोपीचन्द ! चमनलाल को २०) रु० का चेक दे देना !

गोपीचंद—पिताजी फिर चेक ?

सेठ—नहीं, चेक से नहीं। मैं इसे अपने पास ही से दूँगा। (*जेब से निकाल कर उसे रुपये देता हुआ*) यह लो, एक माह की पेशगी। हमें तुम्हारा विश्वास है। कल से काम पर आ जाना।

चमन—बहुत अच्छा।

(*नमस्कार कर जैसे ही जाना चाहता है, सामने से कोतवाल और दो सिपाही प्रवेश करते हैं।*)

कोतवाल—(*चमनलाल से*) क्यों बे ! कहाँ है तीन दिन से ? कहीं तेरा पता भी है ?

सेठ—क्या किया है इसने, कोतवाल साहब !

कोतवाल—तीन दिन से, न जाने, कहाँ लापता है और न कोतवाली में ही हाजिरी देने आया है। इन दो रातों में शहर में आठ नक़ब लग चुके। सब इसी पाजी का काम है। (*सिपाहियों से*) बाँध लो बदज़ात को।

(*सिपाही चमनलाल को गिरफ्तार कर लेते हैं।*)

चमन—आज फिर गिरफ्तार होते समय पहले की तरह न तो मुझे भय है और न क्षोभ ही। पहली बार जुर्म करके भी

अदालत के सामने मुझे बहुत कुछ कहना था और आज, निर्दोष होकर भी, मुझे कुछ नहीं कहना है। लगातार कई महीनों तक सफलता के साथ, न जाने, कितनी जेबें काटी होंगी, किन्तु गिरफ्तारी तो दूर रही, कोतवाल साहब को मुझ पर सन्देह तक नहीं हुआ। आज जब पापों को तिलांजलि दे पवित्र और निष्पाप जीवन को फिर निर्वाह करने का स्वप्न देखा, तो शहर की तमाम चोरियों की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। कल जेल से छूट-कर आया, आज पकड़ा गया कल फिर आऊँगा, परसों फिर गिरफ्तारी होगी। क्या बुरा है, इसी क्रम में यदि जीवन कट जाये। आइये कोतवाल साहब !

(*प्रस्थानोद्यत*)

सेठ—कोतवाल साहब ! इस बार मेरे कहने से आप इसे छोड़ दें। जो लगे, मैं खर्च करने को तैय्यार हूँ।

कोतवाल—अब तो कतई मजबूरी है सेठजी ! पहली दफा मेरे हाथ की बात थी। आप कहते तो मैं जरूर छोड़ देता, लेकिन अब इसका नाम दफ्तर की किताबों में दर्ज हो चुका है। अच्छा, माफी चाहता हूँ। (*सिपाहियों से*) कोतवाली ले चलो इसे।

(*आगे कोतवाल, पीछे सिपाही चमनलाल को ले जाते हैं।*)

गोपीचंद—क्या कहा था मैंने पिताजी ! उस समय ही क्षमा करके आप इसका सुधार कर सकते थे, किन्तु आपने मेरी एक न मानी। आपने केवल इसका जीवन और भविष्य ही नहीं

बिगाड़ा, वरन् इसकी बहन की हत्या का पाप भी आपके ही सिर है। जब तक यह जीयेगा, कहीं सुदूर बैठा हुआ अपने जीवन का मरसिया पढ़ा करेगा और आप सोते, जागते, उठते, बैठते उसे सुना कीजियेगा। आज आपकी आत्मा के चारों ओर एक दरिद्र की हत्या और उसके अभिशाप की काली लकीरें खिंच गईं और लाख पश्चात्ताप करके भी आप उसका प्रतिकार नहीं कर सकेंगे, जैसे उस दिन चमनलाल आपके दफ्तर में नहीं कर सका था। देखी आपने अपने कानून की कामयाबी ?

(हाथ पर गाल धरे सेठजी निर्वाक् बैठे रहते हैं।)

प्रतिशोध

(डा० रामकुमार वर्मा)

एकांकी का एक निष्ठावान भक्त। पश्चिमी कला से सम्पूर्ण लाभ उठा कर उसके समस्त गुणों को भारतीय नाट्य शास्त्र की मँजी हुई शैली में व्यक्त करने का वह अभ्यासी है। भारतीय संस्कृति उसके लिये सब कुछ है। नये युग की अनुभूतियों को वह अपनी राष्ट्रीयता में उसी भाँति लाना चाहता है जैसे वृक्ष की जड़ भूमि से रस लेकर उसे अपने पत्तों की हरीतिमा में परिणत करती है। वह मनोविज्ञान का विद्यार्थी है, अतः सिद्धान्त से उसे चिढ़ है। उसके कथानक अधिकतर ऐतिहासिक, सामाजिक और पारिवारिक हैं। ऐतिहासिक कथानकों में उसकी विशेष रुचि है। सम्भव है, अध्ययन-शीलता के कारण ही ऐसा हुआ हो! कुछ आलोचकों ने उसे हिन्दी में एकांकी कला का जनक कहा है किन्तु अपने इस सम्मान पर वह हिन्दी एकांकी पर और अधिक श्रद्धालु हो गया है और पाठकों के प्रति कृतज्ञ। और फिर अपना परिचय ही क्या!

पात्र

(क) भारवि—संस्कृत के महाकवि

(ख) श्रीधर—संस्कृत के महापंडित, भारवि के पिता

(ग) सुशीला—भारवि की माता

(घ) भारती—एक विदुषी

(ङ) आभा—सेविका

प्रतिशोध

(ध्वनि-एकांकी)

(*श्रीधर ग्रंथ देखते हुये श्लोक पढ़ते हैं :—*)

श्रीधर—ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात् जगत् में जो कुछ स्थावर और जंगम है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है ।—अर्थात् संसार के क्रोड़ में भगवान् की सत्ता ही है। तू नाम-रूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है, उसका स्वाद तेन त्यक्तेन भुंजीथा…(*सुशीला की ओर*) तुम ध्यान से नहीं सुन रही हो !

सुशीला—(*ध्यान मग्नता से चौंककर*) अँह, सुन तो रही हूँ किन्तु भारवि…

श्रीधर—(*बीच ही में*) भारवि ! फिर भारवि ! भारवि के पीछे वेद छोड़ दो, उपनिषद् छोड़ दो। शास्त्र छोड़ दो। भारवि ही संसार में एक पुत्र है और तुम्हीं संसार में एक माता हो।

सुशीला—यह मैं नहीं कहती, किन्तु भारवि अभी तक नहीं आया !……

श्रीधर—नहीं आया, तो आ जाएगा ! इस धारा नगरी में उसके आकर्षण के बहुत से केन्द्र हैं। कहीं बैठ गया होगा। कोई कविता का भाव खोजने लगा होगा। महाकवि जो बनता है। और तुम उसकी माता हो। तुम भी कविता का भाव खोजो न। तुम तो अधिक अच्छा भाव खोज सकोगी। अच्छा, देखो ! यही भाव देखो, ईशावस्योपनिषद् के पहिले ही श्लोक में 'त्येन त्यक्तेन भुंजीथा'...अर्थात् तू नाम-रूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है—

सुशीला—ईश्वर की सत्ता तो है किन्तु भारवि नहीं आया ?

श्रीधर—नहीं आया तो जाएगा कहाँ !……शिव शिव। फिर भारवि। क्या कहूँ सुशीला, भारवि तो उपनिषद् से भी बढ़कर हो गया है कि उसके चिंतन में उपनिषद् का भी चिंतन समाप्त हो गया। कोई चिन्ता नहीं, मैं कहता हूँ, भारवि है कवि। और कवि समय पर शासन करता है। समय उस पर शासन नहीं करता। दिवस और रात्रि के उज्ज्वल और श्याम रंगवाले समय के जो नेत्र हैं उनमें कवि दृष्टि बनकर विचरण करता है। वह घर और बाहर में अन्तर क्या समझता है ? वह समस्त संसार को अपने में देखता है और अपने में समस्त संसार को, कवि संसार में रहकर भी संसार से परे हो जाता है।

सुशीला—तो क्या भारवि कवि बनकर मेरा पुत्र नहीं रहा ?

श्रीधर—पुत्र तो है ही किन्तु वह संसार का जनक भी है। जनक। अपनी कल्पना से वह न जाने कितने संसार के समूहों का निर्माण कर सकता है।

सुशीला—तो क्या कल्पना से वह अपनी माता का भी निर्माण कर सकता है ? और वह करे भी तो कर ले किन्तु संसार में उसकी एक ही माता रहेगी एक ही जननी रहेगी और वह मैं हूँ, मैं ! भारवि की केवल एक माता है, और वह मैं हूँ।

श्रीधर—हाँ, माता तो तुम्हीं हो। किसी दिन शास्त्रार्थ करके देख लेना।

सुशीला—शास्त्रार्थ के नियमों में माता का हृदय नहीं बाँधा जा सकता। शास्त्र में सिद्धांत हैं, प्रेरणा नहीं है। शास्त्र में माता की प्रशस्ति है किन्तु माता के हृदय का स्पन्दन नहीं है। शास्त्र तो तत्व की बात कहता है उसे आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता का अनुभव नहीं है।

श्रीधर—माँ के आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता का अनुभव पुत्र करता है ?

सुशीला—अवश्य करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है।

श्रीधर—व्याकुल होगा तो देख लूँगा उसकी व्याकुलता। तुम इस व्याकुलता से ऊपर उठो। शास्त्र का चिंतन करो।

सुशीला—आप भारवि के पिता हैं तो शास्त्र का चिंतन कर सकते हैं, मैं कैसे करूँ ? आज दूसरा दिन है और वह नहीं आया। और दिनों तो वह जल्दी आ जाया करता था—आज दूसरी रात्रि का दूसरा प्रहर है और वह अभी तक नहीं आया। न जाने वह कहाँ होगा; उसने भोजन भी किया होगा या नहीं ?

श्रीधर—सुशीला, तुम व्यर्थ ही चिन्ता करती हो। भारवि कोई शिशु तो है नहीं जिसे भोजन कराने के लिये माता के दुलार की आवश्यकता है। वह किसी गोष्ठी में बैठकर कविता का आनन्द ले रहा होगा, यहाँ माता चिन्तित हो रही है।

सुशीला—आप इतने निष्ठुर कैसे हैं ? क्या शास्त्र का चिंतन और पांडित्य मनुष्य को निष्ठुर बना देता है ? भूख-प्यास में भी कहीं कवि-गोष्ठी से रुचि हो सकती है ? मेरा भारवि कहीं अन्यत्र भोजन नहीं करता।

श्रीधर—भारवि-भारवि-भारवि ! न तुम शांत रहोगी; न मुझे शांत होने दोगी। भारवि मूर्ख है और तुम......

सुशीला—(*बीच ही में*) हाँ मैं भी मूर्खा हूँ। यदि पुत्र के लिये माँ की ममता मूर्खता है सो ऐसी मूर्खता सदैव ही मुझमें बनी रहे। आप पंडित बनें, शास्त्री हों, विद्या के आचार्य हों। मेरे लाल को मूर्ख समझें और मुझे भी।

श्रीधर—सुशीला, अब तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ ?

सुशीला—कहीं आप ही ने तो उसे घर आने से नहीं रोक दिया ?

श्रीधर—मैंने ?

सुशीला—हाँ, आपने !

श्रीधर—मैंने कभी रोका है ? कभी रोक सकता हूँ ?

सुशीला—पिता सब कुछ कर सकता है। वह उसे घर से निर्वासित कर सकता है, जाति से निर्वासित कर सकता है, समाज से निर्वासित कर सकता है।

श्रीधर—किन्तु हृदय से निर्वासित कर नहीं सकता।

सुशीला—हृदय से न सही; घर से तो निर्वासित कर ही सकता है।

श्रीधर—यदि वह अन्याय का आचरण करे, धर्म के प्रतिकूल चले तो यह भी सम्भव है।

सुशीला—तो आपने ही उसे आने से रोक दिया है।

श्रीधर—मैंने रोका तो नहीं किन्तु यदि वह मेरी बात का उल्टा अर्थ लगाए तो मैं क्या करूँ ?

सुशीला—तो आपने ही मेरे लाल से ऐसी बातें की हैं जो उसे कष्टकर हुईं।

श्रीधर—यदि कष्टकर हों तो उसकी अपनी धारणा है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना अवश्य की होगी।

श्रीधर—यदि पिता चाहता है कि उसका पुत्र सुमार्ग पर चले तो कभी-कभी ताड़ना अनिवार्य हो जाती है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना की है ?

श्रीधर—हाँ, मैंने की है।

सुशीला—इसीलिये वह नहीं आया ! क्या मैं कारण जान सकती हूँ ?

श्रीधर—अवश्य । इधर मैंने देखा कि वह शास्त्रार्थ में अनेक पंडितों को पराजित कर रहा है ।

सुशीला—तो यह तो आपकी प्रसन्नता का विषय होना चाहिए ।

श्रीधर—होना तो चाहिए किन्तु मैं इधर देखता हूँ कि पंडितों की हार से उसका अहंकार बढ़ता जा रहा है। उसे अपनी विद्वत्ता का घमंड हो गया है । उसका गर्व सीमा का अतिक्रमण कर रहा है । यह मुझे सहन नहीं हो सकता ।

सुशीला—तो क्या आप मेरे लाल से ईर्ष्या करते हैं ?

श्रीधर—मूर्ख हो तुम भी । क्या पिता भी पुत्र से कभी ईर्ष्या कर सकता है ? क्या बीजांकुर अपने पुष्प से कभी ईर्ष्या करेगा ? किन्तु मैं यह सहन नहीं कर सकता कि मेरा पुत्र दंभी हो । मैं दंभी पुत्र का पिता होना अपमान समझता हूँ ।

सुशीला—तो आपने उसे ताड़ना दी ?

श्रीधर—हाँ, उसे ताड़ना दी । और उग्र रूप से ।

सुशीला—क्या कहा आपने ?

श्रीधर—मैंने कहा कि तू महामूर्ख है, दंभी है, अज्ञानी है ।

सुशीला—यह आपने भारवि से एकांत में कहा या पंडितों के सामने ?

श्रीधर—पंडितों के सामने। मुझे किसका संकोच है ? पंडितों के सामने ही मैंने अनुशासन किया।

सुशीला—पंडितों के सामने ही ? पंडितों ने क्या कहा ?

श्रीधर—कहेंगे क्या ? वे भारवि की ओर देखकर हँसने लगे। भारवि के स्वर में ही बोल कर वे उसका परिहास करने लगे और ताल पीटने लगे।

सुशीला—और बेचारा भारवि ?

श्रीधर—भारवि ने एक बार व्यथित दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर ग्लानि से अपने हाथों से अपना मुख छिपा लिया और तब वह एक ओर चुपचाप चला गया।

सुशीला—आपने रोका नहीं ?

श्रीधर—नहीं, यदि रोकता तो अनुशासन की मर्यादा कैसे रहती ?

सुशीला—मेरे लाल से अधिक प्रिय आपको अपने अनु-शासन की मर्यादा थी।

श्रीधर—सुशीला ! मोह में मत बहो। अनुशासन की मर्यादा पर बड़े से बड़े व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है।

सुशीला—ओह, आपके क्रोध को देखते हुए वह अब फिर घर लौट कर नहीं आयेगा। मेरा भारवि अब घर लौटकर नहीं आयेगा। आपने अनुशासन की वेदी पर उसका बलिदान कर दिया।

श्रीधर—क्यों ? इससे पहले भी मैंने उसकी अनेक बार ताड़ना की है। फिर भी वह घर आया है, इस बार क्यों नहीं आयेगा ?

सुशीला—उसे आना होता तो इस समय तक वह अवश्य आ जाता। कहीं वह ससुराल तो नहीं चला गया ?

श्रीधर—नहीं, वह मेरी आज्ञा के बिना उस ओर एक पग भी नहीं रख सकता।

सुशीला—तब कहीं उसने आत्महत्या......

श्रीधर—चुप सुशीला। वह शब्द अपने मुख से न निकालना। श्रीधर पंडित का पुत्र इतना पतित नहीं हो सकता कि वह ऐसा जघन्य पाप करे ! वह अनियमित कार्यों से मुक्त है।

सुशीला—तब निश्चय ही वह देशान्तर चला गया।

श्रीधर—हाँ, देशान्तर जा सकता है किन्तु जिस श्रद्धा से वह तुम्हें सम्मान देता है उसे देखते हुए वह तुम्हारी आज्ञा के बिना देशान्तर नहीं जा सकता।

(किसी के आने की ध्वनि)

सुशीला—*(उल्लास से)* वह...आया...*(पुकार)* भारवि-भारवि...मेरे लाल।

श्रीधर—*(पुकार कर)* भारवि !

(सेविका का प्रवेश)

सेविका—नहीं, मैं हूँ स्वामी। आभा।

सुशीला—आभा, भारवि नहीं आया !

आभा—अभी तक कवि नहीं आये ? मैं तो समझती थी कि वे इस समय तक आ गये होंगे।

सुशीला—वे अभी तक नहीं आये। तू जा, जल्दी से उन्हें खोज ला। जल्दी जा, मेरी अच्छी आभा!

आभा—मैं अभी जाती हूँ। स्वामिनि! अभी खोज कर लाऊँगी। किन्तु आप भोजन तो कर लें! मैंने पाकशाला में जाकर देखा, आपका भोजन सजा हुआ रक्खा है, आपने उसे छुआ भी नहीं है।

श्रीधर—तुमने भोजन नहीं किया, सुशीला?

सुशीला—अब लाल के साथ ही भोजन करूँगी। न जाने उसने कुछ खाया-पिया है या नहीं। उसे ग्लानि है। ग्लानि में उसने खाया पिया क्या होगा? आभा, तू जा कवि को अपने साथ ही ले आ!

आभा—मैं अभी जाती हूँ।

सुशीला—तू कहाँ जायगी। जानती है भारवि इस समय कहाँ होगा?

आभा—अतिथि-शाला में होंगे। बाहर से आये हुए पंडितों से वे प्रायः शास्त्रार्थ किया करते हैं। वहीं होंगे।

सुशीला—अब वे वहाँ न होंगे।...वहाँ न होंगे।

आभा—तब तो वे मालिनी-तट पर होंगे। वहाँ बैठकर वे अपनी कविताएँ लिखा करते हैं।

सुशीला—रात में ? आभा, संभव है मालिनी-तट पर वे कुछ सोच रहे हों। नहीं वहाँ भी वे न होंगे। उनकी लेखनी मौन होगी।

आभा—तब जनपद में जाऊँगी।

श्रीधर—हाँ, अधिक से अधिक वह किसी जनपद में जा सकता है किन्तु तू अभी न जा आभा ! रात्रि अधिक हो गई है। मैं कल प्रातःकाल समस्त जनपदों में जा कर उन्हें खोज लाऊँगा।

आभा—स्वामी, आज्ञा दें तो दो-एक जनपदों में अभी चली जाऊँ। स्वामी के प्रताप से मुझे मार्ग में कोई भय नहीं होगा।

श्रीधर—रात्रि में तू उसे खोज न सकेगी, आभा ! मैं ही जाऊँगा।

आभा—जो आज्ञा। स्वामिनी भोजन कर लें तो बड़ी कृपा हो।

सुशीला—आभा, तू जा, मैं भोजन न करूँगी। मुझे कष्ट न दे।

आभा—मुझे क्षमा करें। एक निवेदन और है—महाकवि से परिचित एक युवती प्रवेश चाहती है। वह स्वामी के दर्शन की अभिलाषा रखती है।

श्रीधर—मेरे दर्शन की ? मैं इस समय किसी से नहीं मिल सकूँगा।

सुशीला—आने दीजिये। संभव है, कवि से परिचित होने के कारण उससे लाल के सम्बन्ध में कुछ सूचना ही मिल सके। आभा, बुला ले।

श्रीधर—अच्छा, भीतर भेज दे।

आभा—जो आज्ञा।

सुशीला—गई! आभा कहती है मैं भोजन कर लूँ।

श्रीधर—सुशीला, मैं तुम्हारे हृदय के दुःख को समझता हूँ! मैं निश्चय ही कल प्रातः काल सभी जनपदों में जाकर भारवि की खोज कर उसे तुम्हारे पास ले आऊँगा।

सुशीला—आपके अनुशासन की मर्यादा तो भंग न होगी!

श्रीधर—अनुशासन के स्थान पर अनुशासन और प्रेम के स्थान पर प्रेम है। प्रेम पर ही अनुशासन निर्धारित है और अनुशासन पर ही प्रेम। यदि प्रेम न हो तो अनुशासन का कोई मूल्य नहीं।

सुशीला—आपको विश्वास है, भारवि किसी जनपद में मिल जायगा?

श्रीधर—मुझे विश्वास है, जब वह अनियमित कार्यों से मुक्त है तो किसी न किसी जनपद में अवश्य मिल जायेगा।

सुशीला—यदि नहीं मिला तो..........

श्रीधर—तो मैं राजकीय सहायता की प्रार्थना करूँगा। राजकीय शक्ति उसे कहीं से भी प्राप्त कर सकती है।

सुशीला—आप मुझ पर महान् उपकार करेंगे।

श्रीधर—मोह के वशीभूत न बनो। तुम पर मेरा उपकार कैसा? तुम शान्ति से शयन करो। मैं कल प्रातःकाल भारवि सहित लौटूँगा।

सुशीला—परसों से गया है मेरा लाल। कौशेय वस्त्र धारण कर। पीत रंग का अधोवस्त्र और नील रंग का उत्तरीय। कुंचित केश। मस्तक पर पीत चंदन की पत्रावलि, मध्य में अरुण-बिन्दु। शास्त्रार्थ के लिए जाते समय मैंने अपने हाथों से उसे पुष्पहार पहिनाया था, उसने मुझे प्रणाम किया था—स्नेह गद्गद् हो मैंने कहा—विजयी बनो। उसके मुख पर हल्की मुस्कराहट थी। क्या जानती थी कि आज भी उसे पिता की भर्त्सना मिलेगी।

श्रीधर—भावुक मत बनो, सुशीला! विश्राम करो। मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ कि तुम्हारा भारवि कल तुम्हारे पास होगा।

सुशीला—आज ही हो सकता था वह मेरे पास यदि आप पुत्र-प्रेम से अधिक शास्त्र-चिन्तन को महत्व न देते।

श्रीधर—मैं समझता था कि वह सदा की भाँति अवश्य घर लौट आयेगा। मैंने भी थोड़ी मर्यादा रक्खी। किन्तु उस मर्यादा की सीमा समाप्त हो गई। कल मैं जाऊँगा। हम उसकी पत्नी के प्रति भी तो उत्तरदायी हैं और वह यहाँ नहीं है।

सुशीला—मेरे लिये न सही तो उसकी पत्नी के लिए ही आप कवि की खोज कर लायें।

(भारती का प्रवेश)

भारती—मैं आ सकती हूँ ? प्रणाम करती हूँ, मेरा नाम भारती है।

सुशीला—भारती ? आओ देवी ! तुम कवि भारवि से परिचित हो ?

भारती—बसन्त ऋतु में कोकिल के स्वर से कौन परिचित नहीं ? प्रभात में भैरव राग के स्वर किसे जागरण का सन्देश नहीं देते ? पूर्णिमा के आकाश में अमृत का कलश चंद्रमा अंधकार के हृदय में भी प्रकाश की मंदाकिनी प्रवाहित कर देता है। ऐसे ही हैं महाकवि भारवि। उन्हें कौन नहीं जानता ?

सुशीला—तुम उन्हें कब से जानती हो, देवी ?

भारती—गत पूर्णिमा के पर्व में उन्होंने जो शास्त्रार्थ किया था, उसमें शास्त्र को जैसे जीवन मिल गया। आज तक वेदान्त की मीमांसा इतनी सुन्दर मैंने नहीं सुनी जैसी महाकवि भारवि के मुख से सुनी। जैसे ब्रह्म-ज्ञान सरस्वती की वीणा पर नृत्य कर रहा हो।

सुशीला—धन्य है मेरा कवि !

श्रीधर—इस समय तुम्हारे आने का अभिप्राय क्या है, देवी भारती ?

भारती—महाकवि के दर्शन ! उनका सत्संग ही तो ज्ञान का सागर है जिसके तट पर बैठ कर मैं अनुभूति की लहरें गिन सकती हूँ।

श्रीधर—लेकिन, भारवि, यहाँ नहीं है।

सुशीला—हाँ, कवि अभी तक नहीं आया।

भारती—मैंने तो उन्हें मालिनी-तट पर देखा था। सोचती थी कि इस समय तक वे यहाँ आ गये होंगे।

सुशीला—कब देखा था? किस समय देखा था देवी?

भारती—आज प्रातःकाल ऊषा बेला में।

सुशीला—तुम उससे मिली थीं?

भारती—नहीं! वे उस समय ध्यान-मग्न थे। ज्ञात होता था जैसे वे भारती की उपासना कर रहे हों।

सुशीला—भारती की?

भारती—(हँसकर) मेरी नहीं। वीणापाणि भारती की, सरस्वती की, मैंने उनका ध्यान भंग नहीं करना चाहा। सोचा, बाद में उनसे वार्तालाप करूँगी।

सुशीला—फिर वार्तालाप किया?

भारती—नहीं, वे उद्विग्नता से उठकर एक ओर चले गये मैं उन्हें पा न सकी।

सुशीला—उसके बाद पता पाया कि वे कहाँ गये?

भारती—नहीं, फिर मैं न जान सकी कि वे कहाँ गये।

सुशीला—वे तब से आये भी नहीं। उनके पिता भी तब से उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भारती—ये उनके पिता हैं! प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो। देवी भारती! भारवि जैसे ही आएँगे, तुम्हारे आने की सूचना दे दी जायेगी।

भारती—मैं कृतार्थ हुई। किन्तु आप कष्ट न करें। कल प्रातः-काल मैं पुनः सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी।

सुशीला—यदि इस बीच तुम्हें उनकी सूचना मिले देवी, तो मुझे सूचना देना। मैं कृतार्थ होऊँगी।

भारती—अवश्य! तो मुझे आज्ञा दें। प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो!

(*प्रस्थान*)

सुशीला—देवी भारती से भी मेरे लाल की कोई सूचना नहीं मिली।

श्रीधर—अच्छा, अब तुम विश्राम करो, शान्त मन से, स्थिर चित्त से।

सुशीला—विश्राम! स्थिर-चित्त! (*व्यंग्य की दबी हँसी*) माँ के लिये विश्राम और स्थिर-चित्त जब उसका पुत्र उसके पास नहीं है! आप विश्राम करें, शास्त्रचिंतन समाप्त करें।

श्रीधर—मैं भी उठता हूँ। तुम अपनी शैया पर जाओ; बहुत देर से आसन पर बैठी हो। पैर में शून्यता हो जायेगी। कल जब भारवि आयेगा तो उठ भी न सकोगी।

सुशीला—उठ भी न सकूँगी: आप शयन करें, मैं अपनी शैया पर चली जाऊँगी।

श्रीधर—उठो, मैं सहायता दे दूँ। स्थिर-चित्त से शयन करो। उठो. मैं वचन देता हूँ कि कल भारवि को अपने साथ ही ले आऊँगा।

सुशीला—आप मेरे जीवन का सबसे बड़ा कार्य करेंगे। चलिये (*सुशीला उठती है और उठकर अपनी शैया पर जाती है।*)

श्रीधर—अब ठीक है। मैं दीपक मन्द कर देता हूँ। यह लो अब इस शैया पर शयन करो। मैं भी शयन करते हुए सोचूँगा कि सबसे पहले कहाँ जाऊँ!

सुशीला—वह अपनी ग्लानि में कहीं दूर चला गया होगा।

श्रीधर—चाहे जितनी दूर चला जाय। मैं तो उसे लाऊँगा ही।

सुशील—लाइए—अवश्य लाइए। उसके बिना मैं जी न सकूँगी। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह वह मेरा एक ही लाल है। महाकवि। महापंडित। भारवि!

श्रीधर—(*नेत्र बन्द किये चिंतित मुद्रा में*)—हूँ! (*कुछ शांति*) शयन करो।

(*कुछ देर तक स्तब्धता*)

सुशीला—(*कुछ क्षण बाद*) मुझे नींद नहीं आ रही है—मन न जाने क्या-क्या सोचता है।

श्रीधर—अपना मन स्थिर करो। (*कुछ शांति*) ऊपर देखो, आकाश में कितने तारे हैं—ये एक दूसरे से कितनी दूर हैं किन्तु इनमें से कोई चिंतित नहीं है। सभी समान रूप से चमक रहे हैं।

सुशीला—इन तारों में कोई माता न होगी।

श्रीधर—अपने मन को कल्पना से मुक्त करो। सुशीला, ईश्वर की शक्ति में विश्वास रक्खो। बीज से फूल कितनी दूर रहता है किन्तु बीज कभी मलीन नहीं होता। वह फूल को प्रफुल्लित रखने के लिये निरन्तर रस भेजा ही करता है। तुम भी मंगल-कामना करो कि जहाँ भी तुम्हारा पुत्र हो सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे!

सुशीला—मेरा पुत्र जहाँ भी रहे, सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे।

श्रीधर—हाँ, ईश्वर की शक्ति कण-कण में वर्तमान है। वह सबका पोषण करता है, उस पर विश्वास रक्खो।

सुशीला—मैं विश्वास रखती हूँ।

श्रीधर—अब सो जाओ। विश्वात्मा का ध्यान करते हुए। मैं वही श्लोक पढ़ता हूँ। मेरे स्वर में अपना स्वर धीरे-धीरे मिलाकर शयन करो......(*श्रीधर धीरे-धीरे श्लोक पढ़ते हैं और सुशीला उनके स्वर में स्वर मिलाती है।*)

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् त्येन त्यक्तेन भंजीथा......(*कुछ खटका होता है*)

सुशीला—(*चौंक कर*) यह खटका कैसा! क्या मेरा भारवि आ गया।

श्रीधर—अरे, यह तो हवा का झोंका है जिससे द्वार पर शब्द हुआ है। तुम व्यर्थ ही इतनी व्यग्र हो। सुशीला, शांत रहो।

सुशीला—मैं शांत हूँ। शब्द से मुझे भ्रम हुआ कि मेरा कवि आ गया। वह भी आते समय द्वार पर ऐसा ही शब्द करता था।

श्रीधर—तुम्हारा भारवि कल अवश्य आ जायगा। तुम शान्ति हो। देखो प्रकृति भी शान्त है।

सुशीला—मैं शान्त कैसे रहूँ, चुप अवश्य हो जाऊँगी, किन्तु इस शान्ति में भी इस जुगनू को देखो जो अपने जीवन का प्रकाश लिये हुए चारों ओर उड़ रही है—शायद इसका भी लाल कहीं खो गया है। कीट-पतंग तक अपने लाल को खोज सकते हैं, मैं अपने जीवन का प्रकाश लिए शांत रहूँ, चुप रहूँ। हाय रे मनुष्य! तू कीट-पतंगों से भी गया बीता है।

श्रीधर—सुशीला, मैं बहुत दुखी हूँ तुम्हें देखकर। यदि तुम इतनी अशान्त हो तो मैं अभी ही तुम्हारे पुत्र को खोजने के लिए जाता हूँ।

सुशीला—अन्धकार में वह कहाँ मिलेगा! प्रातः काल जाइए। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि अब आप मेरे लाल की निन्दा करना छोड़ दें। आप सबके सामने उसे मूर्ख और विकल-बुद्धि बतलाया करते हैं इससे उसे मर्मान्तक कष्ट होता है। वह पण्डित है, बुद्धिमान है अब से आप ऐसा न करें।

श्रीधर—सुशीला, मैं आज तुम्हें एक बात बतलाऊँ?

सुशीला—मेरे लाल के सम्बन्ध में?

श्रीधर—हाँ, भारवि के सम्बन्ध में। बात यह है कि मेरा लाल आज संसार का एक सर्वश्रेष्ठ महाकवि है। दूर-दूर देशों में उसकी समानता करने का किसी को साहस नहीं है। वह शास्त्रार्थ में बड़े से बड़े पण्डितों को पराजित कर चुका है। उसका पाण्डित्य देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। किन्तु मेरे भारवि के मन में धीरे-धीरे अहंकार स्थान पाता जा रहा है। मैं चाहता हूँ कि भारवि और भी अधिक पण्डित और महाकवि बने। पर अहंकार उन्नति का बाधक है। मैं उस अहंकार पर अंकुश रखना चाहता हूँ। जिसे अपने पाण्डित्य का अभिमान हो जाता है वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता। यही कारण है कि मैं समय-समय पर उसे मूर्ख और अज्ञानी कहता हूँ। प्रशंसा तो सभी करते हैं किन्तु अधिकारी से निन्दा भी होनी चाहिए। मैं नहीं चाहता कि अहंकार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—(*विह्वल होकर*) क्या कहा आपने ?

श्रीधर—मैं नहीं चाहता कि अहंकार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—तो जो आप मेरे लाल पर क्रोध प्रकट करते हैं वह सच्चा नहीं है ?

श्रीधर—अणुमात्र भी नहीं। इस क्रोध में पुत्र के प्रति मंगल-कामना छिपी है। मेरा पुत्र और भी विद्वान् हो, और भी यशस्वी बने !

सुशीला—ओह, आप कितने महान् हैं ?

(यकायक दरवाजा खोलने की तीखी आवाज होती है । भारवि हाथ में तलवार लिए लड़खड़ाते हुए आते हैं ।)

भारवि—पिता, पिता !

सुशीला और श्रीधर—*(सम्मिलित स्वर में)* भारवि ।

भारवि—हाँ, मैं भारवि हूँ ।

सुशीला—*(विह्वल होकर)* बेटा, तू कहाँ रहा ! मेरे बेटे, तू इतना निष्ठुर कैसे हो गया ! तू कहाँ था ! तेरी, इतनी...... तेरी इतनी......तू क्यों चला गया था......कहाँ था, मेरे बेटे ! *(सिसकने लगती है ।)*

भारवि—माँ, शान्त रहो । अपने चित्त को स्थिर रक्खो ।

सुशीला—तेरे पिता भी कहते हैं अपने चित्त को स्थिर रक्खो, तू भी यही कहता है । मैं कहाँ ले जाऊँ अपने चित्त को प्रभु, इस संसार में माँ के चित्त को स्थिर क्यों नहीं बनाया ?

भारवि—माँ मैं यह कहता हूँ—

सुशीला—बेटा, अब मैं कोई बात नहीं मानूँगी, तू बतला कि तूने अभी तक कुछ खाया या नहीं ? मैं दो दिनों से तेरा भोजन लिए बैठी हूँ ।

भारवि—मैं इतनी ग्लानि में हूँ माँ, कि सम्भवतः मुझे जीवन-भर भूख न लगे ।

सुशीला—तो तूने अभी तक कुछ नहीं खाया ?

भारवि—नहीं माँ ।

सुशीला—ओह, मेरा लाल, दो दिनों का भूखा है। मैं अभी भोजन लाऊँगी। मैं अभी लाऊँगी (*नेपथ्य में पुकारती हुई जाती है। 'आभा, आभा कवि आ गया, उसने अभी तक भोजन नहीं किया। कहाँ है, कहाँ है उसका भोजन…भोजन…'*)

भार्गव—पिता, मैं आपका पुत्र होने योग्य नहीं हूँ। इस तलवार से मेरा मस्तक काट दीजिए।

श्रीधर—वत्स, तुम्हारे मुख में ये शब्द शोभा नहीं देते। अपनी मर्यादा सुरक्षित रक्खो। मैं फिर कहता हूँ कि तुम मूर्ख हो। विकल-बुद्धि हो।

भारवि—सचमुच ही मैं मूर्ख हूँ। विकल-बुद्धि हूँ। और यह तभी प्रमाणित होगा जब आप मेरा मस्तक तलवार से काट देंगे।

श्रीधर—मेरे वाक्यों का प्रमाण तलवार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता। तलवार का प्रमाण निर्बलों का प्रमाण है। निर्भीक वाक्य सबलों का प्रमाण है।

भारवि—किन्तु पिता, यह तलवार मेरा मस्तक नहीं काटेगी, उस ग्लानि को काट देगी जो पिछले दो वर्षों से मेरे जीवन को झंझा की भाँति झकझोर रही है।

श्रीधर—ग्लानि से जीवन उत्पन्न नहीं होता वत्स, जीवन से ग्लानि उत्पन्न होती है। और इस तरह ग्लानि प्रधान नहीं है, जीवन प्रधान है। जब तुम जीवन के अधिकारी हो तो जीवन की शक्ति से ही ग्लानि को दूर करो, तलवार की अपेक्षा क्यों

करते हो? और हाँ, तुम तो महाकवि हो! तुम्हारे हाथों में लेखनी चाहिए, तलवार नहीं। यह तलवार कैसी?

भारवि—पिता, मैं महाकवि नहीं हूँ। तभी तो हाथों में लेखनी नहीं है, तलवार है। जीवन का स्वामी नहीं हूँ। तभी तो ग्लानि का मुझ पर अधिकार है।

श्रीधर—ग्लानि काला बादल है वत्स, जो जीवन के चन्द्र को मिटा नहीं सकता। कुछ चणों के लिए उसके प्रकाश को रोक ही सकता है। उत्साह के प्रवाह से बादल को हटा दो।

भारवि—वह रक्त के प्रवाह से ही हटेगा, पिता! और वह रक्त मेरे मस्तक का होगा।

श्रीधर—मस्तक में सहस्रदल है वत्स, जिसमें ब्रह्म का निवास होता है। ग्लानि के पोषण के लिए ब्रह्मद्रव की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि इस मूर्खता के धूमकेतु की रेखा कितनी लम्बी जायगी? मैंने तुम्हारे दोष दिखलाए तो उन्हें स्वीकार करना चाहिए था। यह नहीं कि ग्लानि से दो दिन घर आने का नाम भी न लो! बेचारी माँ को दुखी और चिंतित रक्खो! उसने तुम्हारे वियोग में दो दिनों से भोजन नहीं किया। अब आधी रात में तुम आये हो, तुम्हारे हाथ में यह तलवार है और पिता से तुम अपना ही मस्तक काटने को कहते हो। मूर्ख पुत्र! मेरे हृदय में पिता की भावना आज तुमसे लांछित हो रही है।

भारवि—पिता, यह सब स्वीकार करता हूँ। आपसे विवाद करना मुझे और भी कष्टप्रद होगा। किन्तु मैं अपनी निर्बलता आपके सामने स्पष्ट करना चाहता हूँ। पिछले दो दिनों का कार्य प्रतिशोध से परिचालित था।

श्रीधर—प्रतिशोध!

भारवि—हाँ पिता, प्रतिशोध! आपने मुझे सदैव लांछित किया। जब मैं शास्त्रार्थ में विजयी हुआ आपने मुझे सार्वजनिक रूप से लांछित किया। जिन पण्डितों को मैं पराजित करता था, वे ही आपके वाक्यों को लेकर मेरा परिहास करते थे—सभाओं में लांछित करते थे। दो बार जब आपने सब पण्डितों के सामने निन्दा की तो मैं क्रोध और ग्लानि से भर गया। मैं घर नहीं लौट सका। मेरी सारी विजय की उमंग रसातल में चली गई। मैंने समझ लिया कि जब तक मेरे पिता वर्तमान हैं तब तक मैं इसी प्रकार लांछित होता रहूँगा।

श्रीधर—यह सत्य है।

भारवि—मैं आत्म-हत्या नहीं कर सकता था क्योंकि वह एक जघन्य पाप है। मैंने अनेक बार सोचा। पिता को तो पुत्र की उन्नति से सुख होना चाहिए। उसके शरीर में हर्ष से रोमांच हो आना चाहिए किन्तु पिता को मेरी उन्नति से अप्रसन्नता होती है; पिता को मेरे दोष ही दोष दीख पड़ते हैं। वे मुझे लांछित करते हैं। एकांत में लांछित करते तो कोई हानि न होती किन्तु विद्वन्मंडली में वे मेरा अपमान करते हैं।

श्रीधर—मेरा अभिप्राय विद्वन्मंडली में हाँ, तुम्हारे दोष दिखलाने का रहा है।

भारवि—जिन पंडितों ने मेरे ज्ञान को अपने सिर पर पुष्प-माला की भाँति धारण किया, उन्हीं पंडितों के समक्ष मेरा अपमान मुझे शूल की भाँति खटक गया और आपके प्रति क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच गया।

श्रीधर—(*मुस्कराकर*) अंतिम सीमा तक फिर तुमने क्या किया ?

भारवि—मैं पूरे आठ प्रहर तक मन ही मन जलता रहा। फिर मैंने यही ठीक समझा कि मैं पिता के जीवन को समाप्त कर दूँ।

श्रीधर—हाँ,···पिता के !···कितना अच्छा होता मुझे अपनी मृत्यु पुत्र के हाथों मिलती !

भारवि—मैंने अपने मित्र विजय घोष के शस्त्रागार से यह पैनी तलवार चुनी जिसकी तीखी धार के स्पर्श मात्र से जीवन का सूक्ष्म तंतु बिना किसी शब्द के क्षण मात्र में कट जाता। मैं संध्या से ही इस घर के कोने में छिपा हुआ था। जब आधी रात में माता जी और आप निद्रा में लीन रहते तो मैं दबे पाँव आकर आप की ग्रीवा पर यह तलवार रख देता। माता जी को भी ज्ञात न होता कि वे जीवन की किस दिशा में चली गई हैं। प्रातः काल जब उन्हें ज्ञात होता और नगर में यह बात फैलती

तो मैं भी आता। मेरा प्रायश्चित्त यह होता कि जीवन भर माता की कठिन सेवा कर उन्हें वैधव्य के कष्ट का अनुभव न होने देता।

श्रीधर—फिर तुमने क्यों नहीं किया ? यह कार्य तो तुम अब भी कर सकते हो !

भारवि—पिता ! मुझे और लांछित न कीजिए। मेरी ग्लानि को अधिक न बढ़ाइए। हाय रे, माता का हृदय, वे क्षणमात्र भी न सो सकीं......। आपको छेड़ती रहीं। उन्होंने आपको सोने न दिया और जब बातों ही बातों में मुझे यह ज्ञात हुआ कि आपकी—आपकी यह पुत्र-वत्सलता ही है कि आप पंडितों के बीच मेरी निंदा कर मेरे गर्वांकुर को नष्ट करते हैं; मेरे अहंकार को दूर कर मेरी अधिकाधिक उन्नति चाहते हैं तो मुझ पर वज्रपात हुआ। मेरा सारा क्रोध पानी बन कर मेरी आँखों से अश्रु-धारा के रूप में निकल पड़ा। ओह पिता, आप कितने महान् हैं ! प्रतिदिन मेरी उन्नति के अभिलाषी ! मेरे अहंकार को दूर कर मुझे साधना के पथ पर बढ़ाने वाले पिता ! मैं पापी हूँ। पितृ-हत्या से प्रतिशोध लेने वाला यह नारकीय पुत्र आज प्रायश्चित्त रूप में अपना मस्तक कटवाने की भिक्षा माँगता है। (*एक सिसकी*)

श्रीधर—शान्त, शान्त ! किन्तु न तो मैं प्रतिशोध लेता हूँ और न भिक्षा देता हूँ।

भारवि—फिर भी मैं दंड चाहता हूँ।

श्रीधर—किन्तु मूर्ख, पितृ-हत्या का दंड पुत्र-हत्या नहीं है।

भारवि—फिर भी शास्त्र की आज्ञानुसार जो दंड हो, वही दीजिए।

श्रीधर—किन्तु मैंने तुम्हें क्षमा किया वत्स, दंड की व्यवस्था पाप के स्थिर रहने में है। जब यह पाप स्थिर नहीं रह सका तब दंड को आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

भारवि—आप से शास्त्रार्थ करना मेरी अल्पज्ञता है पिता, पाप के लिए न सही मेरे प्रायश्चित्त के लिये भी तो कुछ व्यवस्था होनी चाहिए!

श्रीधर—तेरे लिये पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है।

भारवि—आप महान् हैं, पिता। किन्तु जब तक आप प्रायश्चित्त की व्यवस्था मेरे लिये न करेंगे तब तक मेरे जीवन में एक ऐसी आग लगी रहेगी जिसका बुझाना मेरे लिये असंभव होगा। पिता अपनी पुत्रवत्सलता में अडिग रहे और पुत्र पितृ-हत्या का निश्चय कर भी अदंडित रहे? मेरे लिये क्षमा असह्य होगी।

श्रीधर—माता की सेवा कर असह्य को सह्य बनाओ।

भारवि—पिता, माता की सेवा तो मेरे जीवन की चरम साधना है ही किन्तु यदि आप चाहते हैं कि आपका भारवि जीवित रहे तो उसे दंड दीजिए।

श्रीधर—पुत्र यदि जीवन को ही दंड समझ ले तो क्या हानि है?

भारवि—पिता, मैं जीवन को दंड नहीं समझना चाहता। यह ब्रह्म की विभूति है। इसे चिन्ता में घुलाना पाप में लपेटना, दुख में बिलखाना सबसे बड़ा अपराध है। इससे तो अच्छा है कि मैं आपकी अनुमति से दंड स्वरूप आत्महत्या जैसे जघन्य पाप...

श्रीधर—*(बीच ही में)* भारवि !

भारवि—पिता ! मेरे मन की शांति के लिए आप शास्त्रानुसार दंड की व्यवस्था दें।

श्रीधर—छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना।

भारवि—छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना। बस ठीक, आज से यह मेरा प्रायश्चित्त प्रारम्भ हुआ। यह लीजिए तलवार *(फेंक देता है।)* इसे आप कृपया मेरे मित्र विजय घोष के पास पहुँचा दीजिए और मुझे इस प्रायश्चित्त की पूर्त्ति की आज्ञा दीजिए।

श्रीधर—किन्तु यह प्रायश्चित्त इसी क्षण से क्यों प्रारम्भ हो !

(नेपथ्य में 'बेटा, यह गरम गरम भोजन जल्दी से कर ले' आवाज़ धीरे-धीरे पास आती हुई।) तू बहुत भूखा होगा। जल्दी से भोजन कर ले।

सुशीला—*(पास आकर)* ला, मुझे मैं अपने हाथों से खिलाऊँ।

भारवि—नहीं, माँ ! मुझे जूठा भोजन चाहिए।

सुशीला—(आश्चर्य से)—जूठा भोजन !

भारवि—हाँ माँ, आज से छः मास तक जूठा भोजन ही मेरा खाना है।

सुशीला—(आश्चर्य से)—छः महीने ?

भारवि—तूने भी तो भोजन नहीं किया है।

सुशीला—बेटा, तू खा ले ! मेरी आत्मा की तृप्ति हो जाएगी। मैं जी जाऊँगी।

भारवि—नहीं, पहले मैं अपने हाथों से तुझे एक ग्रास भोजन खिला दूँ।

सुशीला—पहले तू खा ले।

भारवि—नहीं माँ, मेरी प्रार्थना मान ले। मैं पहले तुझे खिला दूँ।

सुशीला—(ग्रास लेकर) धन्य मेरे लाल, अब ले तू खा ले

भारवि—नहीं माँ, मुझे क्षमा कर। छः महीने बाद तुम्हारे इन हाथों से भोजन करूँगा।

सुशीला—छः महीने बाद ! यह बात क्या है ? देखिए, (श्रीधर की ओर) यह छः महीनों की बात कैसी !

श्रीधर—(गम्भीर स्वर में)—यह उसका प्रायश्चित्त।

सुशीला—प्रायश्चित्त ! कैसा प्रायश्चित्त ?

भारवि—यह पिता जी स्पष्ट करेंगे। अब मुझे देर हो रही है। पिताजी, आज्ञा दें। माता आज्ञा दीजिए—आप दोनों के

चरणों की धूलि अपने सिर पर रख लूँ। अब मैं अपने आप से प्रतिशोध लूँगा। माता, प्रणाम। पिता, प्रणाम !

सुशीला—भारवि, मेरे लाल !

श्रीधर—गया भारवि।

सुशीला—मेरे लाल, लौट आओ !...

(नेपथ्य में भारवि का स्वर—प्रतिशोध ! प्रतिशोध !)

—समाप्त—